ॐ

सहजानन्दशास्त्रमा

समाधितन्त्र-प्रवचन

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्यश्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

प्रबन्ध-सम्पादक—
वैजनाथ जैन, सदस्य सहजानन्द शास्त्रमाला
यादगार-बडतला, सहारनपुर

प्रकाशक—
मंत्री, सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ

मुद्रक—साहित्य प्रेस, सहारनपुर

सन् १९६७] [न्योछावर १।) रु०

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक महानुभाव —

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ संरक्षक अध्यक्ष, एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसादजी जैन बैंकर्स सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावोंकी नामावली —

१	श्रीमान् लाला	लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्डया,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्डया	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचंद ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	,,	सलेखचंद लालचंद जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचंद जी जैन रईस	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२.	,,	केवलराम उग्रसेन जी जैन	जगाधरी
१३	,,	गेंदामल दगडू साह जी जैन	सनावद
१४	,,	मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नईमन्डी	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	,,	मंत्री दि० जैन समाज	खण्डवा
१८.	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	,,	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१.	,,	सौ० प्रेमदेवीशाह सु. बा. फतेहलालजी जैन संघी	जयपुर
२२	,,	मंत्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	गया
२३	,,	सागरमल जी जैन पाण्डया	गिरीडीह
२४	,,	गिरनारी लाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	,,	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६.	,,	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मंडी	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बडौत
२८	,,	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	,,	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर	कानपुर
३०.	,,	मंत्री दि० जैन समाज नाई की मंडी	आगरा

३१	श्रीमान् लाला	नेमिचन्द जी जैन रुडकी प्रेस	रुडकी
३२	,,	सचालिका दि० जैन महिलामण्डल नमककी मण्डी	आगरा
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन	,,
३५	,,	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन जैन वेस्ट	,,
३६	❀ ,,	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन बजाज	गया
३७	❀ ,,	जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबडा	झूमरीतिलैया
३८	❀ ,,	इद्रजीत जी जैन वकील स्वरूपनगर	कानपुर
३९	❀ ,,	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
४०	❀ ,,	मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या	जयपुर
४१	❀ ,,	दयाराम जी जैन आर० एस० डी० ओ०	सदर मेरठ
४२	❀ ,,	मुन्नालाल यादवराय जी जैन	,,
४३	+ ,,	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सहारनपुर
४४	+ ,,	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला
४५	+ ,,	बनवारीलाल निरञ्जनलाल जी जैन	शिमला

नोट—जिन नामोके पहिले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये है, शेष आने है। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

ॐ

सहजानन्द मौन-मनन

मुझे मात्र ज्ञानानुभव चाहिये। नाथ! आप अपने ज्ञानस्वरूपमे पूर्णरूपसे समाये हुए हो, सो आप कितने सुन्दर हो। आप तो अपनेमे समा गये सो आप कृतार्थ हो। आपमे विकल्प ही नही, बाहर कुछ होता रहो, उसमे अब आपको क्या? आप पूर्ण शान्त हो और आपके ज्ञानमे सारा विश्व प्रतिभात हो रहा है यह अतुल वैभव सहजमे पडा हुआ है आपमे।

मैं भी तो आप जैसा चेतन पदार्थ हूँ। नाथ! मैं ज्ञानानुभव पाये विना न उठूँगा अब। मुझे ज्ञानानुभवके सिवाय अन्य कुछ नही चाहिये। ज्ञानानुभवके सिवाय अन्य जितनी भी स्थितिया है, चाहे इन्द्रपनेके सुख हो, क्या सार है वहा भी? देवियोमे रमकर, उनका दास बनकर, हुकूमत करनेका क्षोभ मचाकर, अनेक सकल्प-विकल्पोमे फँसकर वहाँ भी क्लेश भोगा जाता है, स्वभावसे विमुख होकर मिथ्या ही तो रहना पडता है। अहो, वह भी महाक्लेश है। एक ही निर्णय है मेरा—मुझे ज्ञानानुभवके सिवाय अन्य कुछ नही चाहिये।

नाथ ! क्या मेरा उद्धार नही होगा ? क्यो नही वह कील निकल जाती है वेगसे एकदम, जिससे विकार-फोडेका एकदम शमन हो जाय । ज्ञानानुभव ही वह एक मशक है जिससे प्रेरित होकर विकारके लगावकी जमी हुई कील निकल फिक जाती है । विकारका विनाश हो गया, फिर कोई कामना ही नही रहती, कोई विपदा ही नही रहती, फिर क्लेशका नाम ही नही । पूर्ण समृद्ध परिणति है ज्ञानानुभूतिकी परिणति ।

हे निजनाथ ! दर्शन दो, व्रतप्रतिमामे सागर विद्यालयके सरस्वती भवनके जिनालयमे जैसे चार-पाच दिन लगातार दुपहरकी सामायिकमे ज्ञानानुभवका अमृतपान कराया था वैसा ही अनुभव दो । माना कि मैं अन्यथा चला, अनेक अन्यान्य पदार्थोमे उलझा, परदृष्टिया अनेकश की, किन्तु वह सब विभाव ही तो था, हुआ, हो गया, अब क्या वर्तमान पडा हुआ है वह प्रवर्तन ? एक समयमे एक ही तो परिणति चलती है । अब आपके निकट आनेको अति उत्सुक हूँ तो वह कलुषता अब तो नही है । हा, मानी जा सकती है वासना, सो वासनाका उच्छेद भी तो ज्ञानानुभूतिकी वृत्तियोसे हुआ करती है । हे अविकार ज्ञानस्वभाव ! आओ, अब मेरे उपयोगमे विराजो । जब मुझे आपके सिवाय अन्यकी धुन नही है तो आपके न आनेकी तो कोई अब वजह ही नही रही, अगर रही भी हो कोई जरा सी वजह तो वह आपके आते ही तुरन्त दूर हो जायगी । जरा-मरा सी कसर रहनेपर भी तो आप आत्मरसिकोके उपयोगमे आ जाया करते हो ।

मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, प्रतिभासमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ मैं ज्ञानमात्र हूँ कैसा ज्ञान, ज्ञान, जानन । कैसा जानन, जानन ऐसा जानन, जाननमात्र ही हूँ मैं । अरे, यह अन्य कल्पना क्यो उठी, यह विकार भाव क्यो आया ? हटो ! अच्छा, आया था, वह भी ज्ञानका कार्य था । भेददृष्टि से विकार ज्ञानका कार्य नही, किन्तु जब अभेददृष्टिसे निर्णय हो गया, आत्मा ज्ञानमात्र है तो अब इस ओरसे भीतके जो परिणमन होता है वह इस ज्ञानमात्र आत्माका होता है । विकल्प उठा, विचार उठा, कल्पना हुई, वह भी तो ज्ञान ही इस रूपसे वनकर परिणम रहा है । यहा भी मैंने ज्ञानको किया और ज्ञानको भोगा, लेकिन ऐसे भोगमे मैंने पाया कुछ नही, खोया ही है । अत कल्पनाओ ! हटो ·

· ॐ अहा, यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल जाननस्वरूप, जाननमात्र, प्रतिभास स्वरूप । इसकी उपासनाकी बात बसी रहे, एतदर्थ मुझे दो बातें विशेष करनी हैं— (१) आखे बन्द किये हुए बैठा रहूँ, लेटा रहूँ, किसी खास कार्यके लिये जैसे चलना, शोधना, खाना, बिम्बदर्शन, स्वाध्याय, विशिष्ट साधर्मी बन्धुसे आवश्यक बोलना आदि ऐसे खास कार्योके समय आख खोलूँ, फिर बंद करलूँ, बंद किये रहूँ । (२) यह विचार बराबर चलाये रहूँ मैं केवल जाननमात्र हूँ, प्रतिभासस्वरूप हूँ, यह मैं जानन स्वरूप हूँ, जाननसे अतिरिक्त कुछ नही, यह जाननमात्र हूँ, इतना ही हूँ ।" ॐ 'शुद्ध चिदस्मि ।

समाधितन्त्रप्रवचन

[चतुर्थ भाग]

[प्रवक्ता — अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत् सहजानन्द" महाराज]

●

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबंधाय तस्मै सिद्धात्मने नम ।।

●

दृढात्पबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन ।
मित्रादिभिर्वियोग च विभेति मरणाद् भृशम् । ७६ ।।

अज्ञानीका मरणभय – समाधिभावमे ही स्वायत्त परम सहज आनन्द है। समाधिका आश्रय है सहज अन्तस्तत्त्व। इसका जिनको परिचय नही है, उन्हे जीवनमे व मरणमे घोर सङ्कट सहने पडते हैं। शरीरादिक पदार्थोंमे जिनकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है, ऐसे बहिरात्मा जब मरण कालको देखते है अर्थात् नाशको देखते है और मित्रादिकके वियोगको देखते है, उस समय वे मरणमे बहुत अधिक डरते हैं। आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है और शरीर अनेक परमाणुओका पुञ्ज है। जब शरीरसे इस आत्माका वियोग होता है उस समय देखना चाहिये कि जैसे फटे–पुराने कपडेको उतारकर कोई नवीन वस्त्र पहिन रहा है, तो उसमे दु खकी क्या बात है? इसी तरह पुराने जीर्ण शरीरको त्यागकर नवीन शरीर धारण करनेको है तो उसमे दु ख न होना चाहिये। किन्तु जब आत्मामे ज्ञान नही है तो मोहकी तीव्रताके कारण वह शरीरको ही आत्मा समझ लेता है। अत जब मरण काल आता है, उस समय यह समझता है कि मेरा विनाश हो रहा है, ऐसा जानकर मरणसे अत्यधिक डरता है।

मरणभयके कारणभूत अहङ्कार और ममकार भैया! इस पर्यायमुग्ध जीवको शरीरसे न्यारा अपने आत्माका स्वरूप तो समझमे आया नही। मैं आत्मा इस शरीरसे जुदा हूँ, ऐसा तो उसके ध्यानमे है नही, सो जो शरीर है सो ही मैं हूँ, ऐसा माननेपर शरीरके नाशमे अपना नाश समझता है, एक बात तो यह है क्लेशके कारणो मे। दूसरी बात यह होती है कि मित्रादिक अथवा जो धन कमाया, वह वैभव सब छूटनेको है। छूटा जा रहा है, ऐसा भी देखते है, सो जिसने बडा श्रम करके धन

कमाकर रखा हो और धन एकदम छूट रहा हो तो उसका क्लेश आयगा । इसी जीवनमे कोई १०० रु० का नुकसान हो जाय तो कितना दुःख मानता है यह जीव ! १० रु० गिर जायें तो उसका ही क्लेश होता है । भला जब सारी जिन्दगी भरकी कमाई छोडे जा रहा है, कुटुम्ब छूटा जा रहा है, ऐसा देखते हुएमे इस मोही मरने वालेका बडा क्लेश होता ही ।

समागमका आद्योपान्त परिणाम क्लेश भैया ! सब समझो कि जो कुछ कमाया जा रहा है, वह सब अपने आप अपने क्लेशका साधन जुटाया जा रहा है । कमाते जावो, कमाते जावो, पर किसी दिन तो इससे जुदा होना ही है । मरण-कालमे सब छूट जानेको है, उस समय इसके चित्तमें कितना सक्लेश परिणाम होगा । जिसने जिन्दगीमे कुछ कमाया नही, अपनी जिन्दगी आराममे निभायी जितनी आव-श्यकता थी उतना कमाया । अब मरते समय उसको वह सक्लेश कहाँसे होगा कि हाय मैंने लाखोका धन कमाया अब यो ही छूटा जा रहा है । इस निगाहसे देखो तो धन सम्पदा यह कमाया हुआ धन सब महान् क्लेशके लिए होते हैं ।

रागी जीवनमे विकट समस्या—एक तो यही प्राकृतिक विकट समस्या है कि यह मनुष्य जन्मता है तो पहिले तो रहता है बच्चा, फिर होता है जवान और फिर होता है यह बूढा ! इसने आरामके लिये बडे साधन जुटायें, सब चीजे इकट्ठी की और अतमे आ गया बुढापा, शरीर थक गया, बूढा जानकर परिवारके लोग कुछ फिक्र भी नही करते, कुछ हमारे कर सकने लायक तो रहा नही, अब उसकी कौन खबर रक्खे। जिन्दगी भर आरामकी मशासे बडे बडे श्रम किये, बहुत धन जोडा सब कुछ किया, पर अन्तिम स्थिति ऐसी आती है प्राकृतिक कि वह प्राय कष्टके लिये होती है । कोई धनी हो और वह बूढा हो जाय, रोगी हो जाय, तो उसका वह धन उसके प्राणघात के लिये होता है जिसका सम्बन्ध उस धनके साथ है या होगा या जिसे अधिकार मिलेगा, वह क्या यह चाहता है कि यह और जिन्दा बना रहे । ये ही सारी चीजें उसके लिये अनर्थके कारण होती हैं, पर व्यामोही पुरुष इस धातमे लगा रहता है कि जितना अधिक सचय हो जाय, जितना अधिक जोड ले, जितनी बडी अपनी शान बन जाय, हम सबसे बडे धनपति पुरुष हैं, जितनी बडी इज्जत धनके कारण हो सके कर लें, यो विकल्प करता है । यह नही सूझता कि आखिर वह कल्पित सुख सबकी सब इकट्ठी कसर निकाल लेगा, एकदम महान् कष्टका कारण बनेगा ।

फुट्टू देवी ऊँट पुजारी—भैया ! सब कष्टोका कारण शरीरमे आत्मबुद्धि करना है, लोग मुझे समझे कि ये बहुत बडे पुरुष हैं । किन लोगोमे यह चाहा जा रहा है ? जो मोही हैं, मलिन हैं, अज्ञानी हैं, जिनको अपनी भी सुध-बुध नही है, ऐसे लोगोमे मेरा नाम फैले यह सोचा जा रहा है ऐसे पुरुषोमे नाम फैलनेकी बात वही सोच सकता है जो खुद मलिन है, मोही है, शरीरको ही आत्मा मानता है । सो वहाँ जैसे एक कहावत है कि फुट्टू देवी ऊट पुजारी ऐसी हालत हो रही है । किसी जगह

पर एक फूटा पत्थर पडा हुआ था, वह बन गया देवता और उसके पूजने वाले ऊँट बन गये। ऐसा हाल इन मोही–मोहियोका है, किनमे नाम चाहते हैं ? ये मोही मोहियोमे ही नाम चाहते है। मेरा नाम हो, इसमे 'मेरा' शब्द कहनेसे किसको लक्ष्यमे लिया है ? इस शरीरको, यदि इस चैतन्यस्वरूप आत्माको लक्ष्यमे लिया होता कि इस मेरेका नाम हो तो वह नामकी बात न सोचकर यो सोचता कि मेरा शुद्ध विकास प्रभुके ज्ञानमे दीखा हुआ हो।

सक्लेशका मूल कारण अभेदाभ्यास – यह अज्ञानी जीव तीव्र मोहके उदयवश इस शरीरको ही आत्मा समझ लेता है जब शरीर सम्बन्धी स्त्री–पुत्र मित्रादिक इन पर पदार्थोंको मानता है कि ये मेरे है, तो जब उनके मरणका समय आता है तो अपना नाश समझ लेते हैं—हाय मैं मरा, हाय मैं मिटा ! और उस कालमे अपने मित्रका वियोग देखता है, जिससे बडी सलाहे ली, जिसको अपने प्राणोकी तरह देखा, जिसमे बडा खुलकर गुप्त रहकर सब प्रकारका व्यवहार किया, ऐसे पुरुष जब छूट रहे है, उनको छोडकर जब यह जा रहा है तो उस समय इसे बडा क्लेश होता है। ये सारे क्लेश तब न हो जब अपने जीवनमे इन सब पर पदार्थोंसे मैं भिन्न हूँ, ऐसी अपनी भिन्नताका अभ्यास किया होता और किसी भी अवस्थामे राग–द्वेष न करनेका यत्न किया होता, ध्यान बनाया होता तो उनके मरणकालमे क्लेश न होता।

भेदविज्ञानसे ही क्लेशविनाशकी सभवता– सभी जीव जो जन्मते है, वे मरते अवश्य है। जिनके आयुका उदय है, उनकी आयुका क्षय अवश्य होगा। आयुके क्षयके बाद आयुका उदय मिले या न मिले, दोनो ही बाते सम्भव है, जैसे १४ वे गुणस्थानके अन्तमे आयुका क्षय ही हो जाता है, उसके बाद फिर आयुका उदय नही मिलता है, सिद्ध हो जाता है तो यह सम्भव है कि आयुके क्षयके बाद नवीन आयु न मिले, पर आयु मिली है, आयुका उदय है तो उसके बाद आयुका क्षय अवश्य होगा। अब सुख, साता, आनन्द तो भेदविज्ञानमे है ही, इस जीवनमे ही भेदविज्ञान करे, धन-सम्पदासे मोह न रखे, इमे अपना सर्वस्व न समझें। इसमे मोह–ममता करनेसे तो बहुत बडा ऋण चुकाना पडेगा, बडा क्लेश होगा। प्रथम तो इस जीवनमे ही क्लेश होगा, कभी कुछ मिट गया तो उसे देखकर शोक करना होगा। और मरण समयपर तो बडे क्लेशका अवसर ही आ गया समझिये सब कुछ एकदम छूटता दीख रहा है।

प्राकरणिक शिक्षा इस वार्तासे हमे क्या शिक्षा लेनी है कि हम अपने जीवनमे इस बातका भेदाभ्यास बनायें कि मेरा आत्मा इस शरीरसे भी न्यारा है, अन्य पदार्थोंसे तो न्यारा अपने आप ही बहुत पहिले है, चेतन और अचेतन ये समस्त समागम मेरे सुखके लिये नही हो सकते, जब ये मिले हैं तब भी सुखके लिये नही है। वियोग होनेपर तो दुःखका आखिरी विस्तार हो जाता है पर जितने काल ये मिले है, उतने काल भी इनसे सुख नही है। स्त्री, पुत्र, वैभव, कुछ हो किसीसे सुख नही है।

स्त्री–समागममे क्लेश-- स्त्री यदि कुरूपा है तो उसके कुरूपपनेको देखकर

यह सदा मनमे जुगुप्सा बनाये रहता है और दुखी रहता है। स्त्री यदि सुरूपा है तो नाना प्रकारकी शङ्काएँ यह पुरुष मनमें रखता है और स्वयंका ही कुछ भ्रम बनाये रहता है जिससे चित्तमें अशान्ति बनी रहती है। स्त्री यदि आज्ञाकारिणी नहीं है तो उसका कष्ट भोगता है और यदि आज्ञाकारिणी है तो उसमे भी अधिक कष्ट भोगता है, फिर तो जगह-जगह अपनी स्त्रीके गुण गाने पडते हैं, मेरी जैसी स्त्री दुनियामे कही नही हो सकती। ऐसा ही सभी लोग प्राय सोचते रहते हैं। कितना कष्ट है—सुन्दर समागम मिले तो उसका कष्ट और अमनोज्ञ समागम मिले तो उनका कष्ट।

पुत्रादिसमागममे क्लेश—स्त्री ही क्या, पुत्रकी भी यही बात है। भला पुत्र हो तो क्या हुआ ? तत्सम्बन्धी रागकी वासना जो चित्तमे बनी रहती है उसकी मुदी चोटसे इसे निरन्तर पिसना पडता है और फिर अच्छे पुत्रके होनेसे जो मनमे राग बसाया है, उस रागभावकी पकडके कारण इसको आत्मानुभवका अवकाश नही मिलता है। शुद्ध आनन्द जिस स्थितिमें है, जिस अनुभूतिमे है उस स्थितिके इसे दर्शन भी नही होते है, तो कौनसा पदार्थ ऐसा है जो इस जीवके लिये सुखका कारण हो, किन्तु यह मोही शरीरको भी अपना मानता है और बाह्य चेतन-अचेतनको भी अपना समझता है और इसी कारण अन्तिम समयमें इसे बडे क्लेश भोगने पडते हैं।

कोढमे खाज – देखो भैया ! जिन्दगी भर तो धर्म किया, जिन्दगी भर श्रम किया, दान किया, दया की, परोपकार किया, नाम कमाया, वह साराका सारा यशका सुख मरण कालमे इसकी कसर निकाल रहा है। यहाँ सक्लेश होता है मरणमे। प्रथम तो जब यह जीव इस शरीरसे निकलनेको होता है, तो यह बताते हैं कि जैसे चाँदीका तार खीचनेका यन्त्र जिसे जती कहते हैं होता है ना, उससे जैसे तार खीचा जाता है तो उस तारपर क्या गुजरती है, जो गुजरती है वह उसीपर गुजरती है, वह तो अचेतन है, अनुभव नही करता है पर इस ही भाँति इस शरीरसे जब जीव निकलता है तो उतने कष्ट पूर्वक निकलता है। प्रथम तो वह ही एक समस्या है फिर दूसरी बात शरीरको मान लिया कि यह मैं आत्मा हूँ तो दु ख सहस्रगुणा हो जाता है। जिसके यह विवेक जग रहा हो कि यह शरीर शरीर है, यह मैं आत्मा हूँ, ये तो दो पदार्थ पहिलेसे ही थे, यह मैं अमर हूँ। यह मैं निकल रहा हूँ, पर अपने स्वरूपमें बराबर बना हुआ हूँ ऐसी जिसकी बुद्धि हुई मरणकालका कष्ट उसके अत्यन्त हल्का हो जाता है, पर मरणका भी कष्ट है और साथ ही शरीरमे आत्मबुद्धि भी बनी है तो जैसे एक कहावत है कि कोढमे खाज, पहिले तो क्लेश था कोढका, अब उसी जगह खुजली भी हो गयी। तो शरीरसे जीवके निकलनेमे बडा क्लेश है और ऐसे शरीरमे आत्मबुद्धि हो गयी तो उसका कष्ट सहस्रगुणा हो गया।

मरणकालमे फोकट तृतीय कारण—मरणकालमे यह उद्दण्ड जीव फोकटकी तीसरी बात यह भी देख रहा है, सोच रहा है कि मैंने अपने जीवनमे कैसे कष्ट उठा कर लाखोका धन जोडकर रखा था, कैसे कैसे लोगोको सताकर अपने आपके आरामको

भी बरबाद करके यह इतना धन वैभव सम्पदा जोड रक्खा था, अब यह साराका सारा छूट रहा है, तीसरी बात यह देख रहा है। तो ये ३ प्रकारके कष्ट एकसाथ मरण के समयपर आ जाते है और यह अज्ञानी जीव मरणके समयमे दुखी हो जाता है।

मरणभयहारी चिन्तन – भैया, जब मरणके सब फंदे आ पडते हैं तब कर्तव्य क्या है ? मरण तो सबपर आयगा कि साराका सारा छोडकर जाना पडेगा ना, तो अभीसे सम्हल जायें और अपना कर्तव्य परखें तो समझो कि कुछ अपनी भलाई है, सम्हलना क्या है ? वही एक बात करलो। क्या ? भेदविज्ञान। अपने स्वरूपकी दृष्टि करलो यदि विज्ञान प्रबल होगा तो क्लेश नही हो सकता है। यह ज्ञानी तो यह समझ ही रहा है कि आनन्दस्वरूप ही मेरा है। मैं कहाँ किसी परसे आनन्दकी आशा लगाऊँ, किसी परसे मुझे आनन्द नही मिलता, न मिला है और न मिल सकेगा। आनन्द तो मेरा स्वरूप ही है। मैं ही अपने आनन्दस्वरूपको भूलकर बाहरी क्षेत्रमे उपयोग लगाता हूँ तो दु खी हो जाता हूँ। मुझे बाहर जाननेसे कुछ काम नही पडा है। बाह्य निमित्तसे मेरे ज्ञानका विराम भी नहीं होता है। मैं स्वय ज्ञानमय हूँ। जब अपने ज्ञानस्वरूपको जानूँ तो ज्ञानका उसमे विकाश है। ऐसा मै स्वत सिद्ध सनातन चेतन हूँ। मरण ही कहाँ है ?

आत्माके मरणका अनवकाश- प्राणोके वियोगका नाम मरण है। मेरे प्राण हैं ज्ञान और दर्शन। पदार्थका जो अभिन्न स्वरूप है जिसके मिट जानेपर पदार्थ मिट जायगा उसको प्राण कहा करते है जैसे अग्निका प्राण है गरमी। गरमी न रह जाय तो अग्नि मिट जाया करती है, ऐसे ही मुझ आत्माका प्राण है ज्ञान दर्शन। स्वभाव मेरेमेसे निकल जायगा तो मेरे प्राण न रहेगे। मेरे प्राण हैं ज्ञान और दर्शन। ये प्राण मेरेसे त्रिकाल भी दूर नही हो सकते। वह ही मेरा स्वरूप है। तब फिर मरण क्या चीज है ? यह ज्ञानी पुरुष तो नि शङ्क रहता हुआ अपने आपमे अपने ज्ञानानन्द स्वरूपको अनुभवता हुआ एक चिन्मात्रके अनुभवरूप ही परिणमता रहता है ये शारीरिक क्लेश अज्ञानीको लगते है, ज्ञानीने अमृत पान किया है उसको कोई कष्ट न होगा और न उसका कभी विनाश होगा। अमृत है ज्ञान। जो न मरे उसे अमृत कहते है न 'मृत इति अमृतम्' ऐसा कौनसा तत्त्व है जो मरता नही है, जगतमे जो कुछ दीख रहा हैं, फूल हो फल हो या कोई पानक हो ये सब मायारूप हैं, मिट जाने वाली चीजे हैं, जो मिट सकते है, मिट जाते है वे दूसरेको अमर कैसे करेंगे ? अमृत तो ज्ञानस्वभाव है, स्वभाव कभी नही मरता है, इस अमृत अमर ज्ञानस्वभावका जो ज्ञान द्वारा रसपान करता है वह अमर है, अभी भी अमर है, शरीरसे न्यारा हो रहा है, किन्तु वह अमर है, क्योकि उसकी दृष्टिमे अमर हूँ, ऐसा भली भाँति समाया है।

अविवेक और विवेकमे लाभ व अलाभ —यह अज्ञानी जिस शरीरादिकमे आत्म–बुद्धिकी दृढता ला रहा है, यह मैं हूँ और जब कल्पनामे कुछ दूसरा बन गया है सो शरीरके पानेको अपना जन्म समझता है और शरीरसे जुदा होनेको मरण

समझता है। 'तन उपजत अपनी उपज जानं, तन नसत आपको नाश मान।' इस कुबुद्धिसे धैर्य सब खो दिया अत अधीरतापूर्वक उसने समय गुजारा है तथा मरण-काल आनेपर बहुतसे वध करके अगले भवमे खोटी गति पाकर दुखी रहता है। सबका इलाज है एक भेदविज्ञान करना—यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे ही लक्ष्यपर जम जावे, वही दृष्टिमे रहे, इसके अतिरिक्त अन्य सब समागमोको भिन्न, अहित, मायामय समझो तो जीवन सुखसे परिपूर्ण रहेगा और मरण कालमे भी न कोई भय हूंगा और न कोई शङ्का रहेगी।

●

आत्मन्येवात्मधीरन्या शरीरगतिमात्मन ।
मन्यते निर्भय त्यक्त्वा वस्त्र वस्त्रान्तरग्रहम् ।। ७७ ।।

यथार्थ भेदभावनामे निर्भयता – आत्मस्वरूपमे ही जिसकी दृढतासे आत्मा की प्रतीति है, ऐसा अन्तरात्मा पुरुष शरीरकी अवस्थाको चाहे बालपन, वृद्धपन, युवा पन अथवा मरण आदि किसी भी प्रकारकी अवस्था हो, उस अवस्थाको अपनेसे भिन्न मानता है और इस प्रकार मरणके अवसरपर निर्भय होता हुआ अपना लक्ष्य बनाए है। उस समय वह यो समझता है कि जैसे कोई पुरुष एक वस्त्रको छोडकर नवीन वस्त्र ग्रहण कर लेता है उसमे वह कुछ भय नही मानता है। इसी प्रकार यह आत्मा एक शरीरको छोडकर नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है। जितने भी क्लेश हैं वे सब परवस्तुओंके लगावसे हैं। राग-द्वेष भावके समान, अज्ञान-मोह भावके समान अन्य कोई शत्रु नही है, यह ही एक शत्रु है दूसरा कोई शत्रु नही है।

भेदज्ञानका कर्तव्य – भैया! सब ज्ञानकी बात है, घर छोडनेकी बात नही कही जा रही है अथवा किसीमे विरोध करनेकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु जो बात जैसी है, उसको उस प्रकार यथार्थ समझ लेना है, इतनी भर बात कही जा रही है। ससारके प्रत्येक जीव, समस्त जीव तीन कालमे भी मुझमे मिल नही सकते हैं, न उन रूप मैं हो सकता हूँ और न मुझ रूप वे हो सकते हैं, न उनकी परिणतिसे मेरी परिणति हो सकती है और न मेरी परिणतिसे उनकी परिणति हो सकती है। त्रिकाल भिन्न है सब मुझसे। यहाँ तक कि मेरा किसी दूसरे आत्माके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी नही होता है।

चेतन तत्त्वका अन्य चेतन तत्त्वके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका अभाव – देखो भैया, विचित्र बात कि अचेतनके साथ तो मेरा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है, पर किसी चेतनके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी नही हो सकता। कोई कहे कि उपदेश दे रहे हैं और उसे सुनकर दूसरे लोग चेत जाते हैं, सावधान हो जाते हैं तो उन श्रोताओंके उपकारके लिये, सावधानीके लिये, ज्ञान-विकासके लिये, यह श्रोताका आत्मा निमित्त हुआ ना? खूब ध्यानसे निश्चय करलो अपना निमित्त-

नही हुआ। उस श्रोताने वक्ताके आत्मासे कुछ नही लिया, श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा भाषा वर्गणाका परिणमन ग्रहण किया, श्रोताकी सावधानीमे निमित्त वचन हुए, वक्ताका आत्मा नही। हाँ उस वचनके लिये वक्ताका आत्मा निमित्त है, हर एक आत्माके लिए दूसरा आत्मा निमित्त नही हो रहा है। खूब परखलो विचित्रता—कि कैसी उल्टी गगा वहाई जा रही है, एक जीवका दूसरे जीवके साथ निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध तक तो होता नही और मान रहे है अपना सब कुछ कुटुम्ब और रिश्तेदार आदिको। श्रोतावोने जो अपना सुधार किया उनके इस सुधारमे जो सूत्र उपदेशके वचन निमित्त हुए, तो देखो एक जीवके उपकारमे ये वचन अचेतन निमित्त हो गये और वक्ताके वचन निकले तो उन वचनोमें यह वक्ताका जीव निमित्त हुआ। तो अचेतनका चेतनसे तो कदाचित् किसी रूपमें निमिम नैमित्तिक सम्बन्ध है, पर चेतनका चेतनके साथ सम्बध नही है, लेकिन मोही जीव इस तथ्यको भूलकर किसी भी चेतनके प्रति अपना मोह परिणाम, ममता भाव लगाये रहते हैं।

उत्कृष्ट वैभव—सबसे उत्कृष्ट वैभव है यथार्थ ज्ञान, धन सम्पदा वैभव नही है, यह तो मोहकी नीदमे जिन जिनको स्वप्ने आ रहे है उनकी यह परस्पर वडप्पन की वात है। वैभव तो वह है जो शान्ति, सतोष उत्पन्न करे, यही वास्तविक अमीरी है। जो इस अमीरीको ला सके उसे उत्कृष्ट वैभव कहते है। यह सामर्थ्य यथार्थ ज्ञानमे है। योगिराज साधुजन जगलमे अकेले विचरते है। उन्होने राजपाट छोडा, आराम छोडा और वे जगलमे अकेले रहते हैं उन्हे वहाँ सतोष मिला। धन सम्पदा जव तक साथ थी तव तक अशान्ति रही, और धन सम्पदामे उन्होंने सतोष न पाया उसका परित्याग करके अकेले निर्जन वनमे अपने आपसे जो मिलन हो रहा है उससे उन्हे शान्ति मिली। उत्कृष्ट वैभव यथार्थ ज्ञान है।

अज्ञानमे सन्तोषका अभाव--अज्ञानमे सतोप हो ही नही सकता है। पर वस्तुके सम्वन्धकी वुद्धि रखकर कुछ भी करतूत कोई करे उन सब करतूतोमे इसके भीतर मोह पडा हुआ है, पर वस्तुके साथ सम्वन्ध माननेकी प्रतीति पडी हुई है, सम्बन्ध है नही और मान रहे हैं। कोई पुरुष किसी भी दूसरेकी स्त्रीको अपन मानसा फिरे और अपनी जैसा व्यवहार करे तो उसका क्या फल होगा? दड मिलेगा, ठुकाई पिटाई होगी ऐसे ही कोई भी पुरुष इन पर वस्तुओको धन वैभव घर, शरीर आदि दूसरी चोजोको अपनी मानता फिरे और उनके साथ अपनी जैसा व्यवहार करे तो उसका फल क्या होगा? दड। मगर इस दडको देने वाला इस लोकमे कोइ नही है प्रकृति दड देती है। प्रकृतिका अर्थ है कर्म कर्मोदय इसका दण्ड दे देता है। लोकमे अन्याय कही नही। जो लोग इस जीवनमे अन्याय करके कुछ सम्पदा प्राप्त कर लेते हैं अथवा इज्जत प्राप्त कर लेते हैं वे अन्याय करके नही प्राप्त कर पाते, उनका पूर्वकृत भाव वैसा था, वर्तमानमें पुण्यका उदय है जो उन भावोंसे बाँध लिया गया था उस उदयमे यह सब हो रहा है, अन्याय नही हो रहा है।

परिणमनोमें विधिविरुद्धतारूप अन्यायका अभाव भैया ! यह पूर्वकी कमायी है जो वर्तमानमें मिल रही है। अब इस कमायीको पाकर इस सम्पदाको प्राप्तकर खोटा भाव करे, अन्याय करे तो यह भी किसी प्रकारके कर्मोदयकी प्रकृतिका फल है, यह भी अन्याय नहीं है और इस अनीतिके परिणाममें जो कर्म बँधा उसका फल आगे मिलेगा, वहाँ भी अन्याय नहीं है, निमित्त-नैमित्तिक भावपूर्वक कार्य हो रहे हैं इस कारण अन्याय नहीं कहना चाहिए। सब न्यायसिर हो रहा है। यह वस्तु परिणमनकी ओरसे कहा जा रहा है, व्यवहार मार्गमें नहीं कहा जा रहा है। व्यवहार मार्गमें तो अबके इस आचारणको अन्याय कहा ही जाता है और वहाँ कानून और व्यवस्था बनायी ही जाती है पर निमित्त-नैमित्तिक भावका उल्लङ्घन कहीं नहीं होता है। इस दृष्टिसे किसी भी परिस्थितिको अन्याय नहीं कह सकते है, हो रहा है ऐसा। जो पुरुष शरीरमें आत्मबुद्धि करता है, शरीरकी अवस्थाको अपनी अवस्था मानता है उसको मनको न रुचने वाली अवस्थाके होनेपर खेद होगा ही, किन्तु जो शरीरकी अवस्थाको अपने आत्मासे भिन्न मानता है, ऐसा पुरुष निर्भय रहता है। कुछ भी परिस्थिति हो घरकी, सम्पदाकी परिजनकी, यह तो वहाँ ज्ञाता द्रष्टा रहता है यह तो अपने ज्ञातृत्व भावमें आनन्द लिया करता है, कहीं कुछ हो, कर भी क्या सकता है यह दूसरेमें। यह स्वरूप दृष्टिसे कहा जा रहा है। इस कारण यह ज्ञानी सदा अपने आपमें प्रसन्न रहा करता है।

परिणामपर लाभ अलाभकी निर्भरता—भैया, खोटे परिणाम होना इस जीवपर एक विपत्ति है और कोई दूसरी विपत्ति नहीं है। गरीबी आ जाय दूसरे लोग भी सताने लगें, लोग विश्वासघात कर जायें जो कोई जो कुछ कर जाय वह उनकी प्रवृत्ति है, किन्तु खोटा परिणाम न उत्पन्न हो, किसीका अहित करनेकी भावना न जगे, हितरूप भावना हो तो वहाँ कोई नुकसान नहीं है। भले ही कोई धन लूट ले जाय, छीन ले जाय, टोटा पाड दे, धोका देकर नुकशान कर जाय, जो चाहे हो जाय, अपने परिणामोंमें, अपने आशयमें यदि दुष्टता नहीं आती तो समझ लीजिए कि अपना कुछ नुकसान नहीं है और, परिणामोंमें खोटा आशय आ जाय, दूसरेको तुच्छ मान लिया जाय, अपनी बडाई करनेके लिये, अपना यश रखनेके लिये दूसरेकी इज्जत उतारनी पडे, कुछ खोटा भाव करके यह अपना यश बढाये या सम्पदा बढायें, तो कुछ नहीं बढाया, घाटेमें ही रहा।

परिणामपर लाभ-अलाभकी निर्भरतापर दृष्टान्त—जैसे महान श्रुत ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये यह मनुष्य अध्ययनकर-करके श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता, पढकर, यादकर, रटकर अध्ययन करके यह श्रुत केवली नहीं बन सकता, श्रुत केवली तो एक आंतरिक तपस्याके बलपर होता है श्रुत केवली सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है, वह परमार्थजीव-स्वभावको, अतस्तत्त्वको दृष्टिमें रखकर उसकी उपासनामें लगता है तब उस स्वभावमें केन्द्रित किये गये उपयोगके कारण श्रुतज्ञान इतना विस्तृत हो जाता है। ऐसे ही यह यश है या अन्य सुख है। ये सब भी प्रयत्नसे श्रमसे नहीं

किये जा सकते; किन्तु दया दान, उपकार, मन्दकषाय, भक्ति आदि ऐसे मन्दकषायोके कारण जो प्रकृतिबन्ध हुआ है उस प्रकृतिके उदय होनेपर ये लौकिक लोकोत्तर वैभव सब स्वयं उपस्थित हो जाते है।

यथार्थ ज्ञानकी महनीयता- सबसे उत्कृष्ट वैभव है तो यथार्थ ज्ञान है और सबसे उत्कृष्ट व्यवसाय है तो यथार्थ ज्ञान करना है। जो जीव एक निर्णय करके केवल ज्ञानार्जनके लिए ही उतारू होते है, इस ज्ञानके समक्ष, इस ज्ञानार्जनके समक्ष किसी भी जड धन सम्पदाका मूल्य नही आँकता है, ऐसे ज्ञानार्जनकी धुन वाला पुरुष, ज्ञानार्जन करके एक उत्कृष्ट वैभव प्राप्त करता है, यही अन्तिम पुरुषार्थ है । ऐसे ज्ञानीने अपने आत्मस्वरूपको पकडा, सहज शुद्ध, सहज बुद्ध इस अन्तस्तत्त्वका कैसे ग्रहण किया उसे यह दीखता है जैसे कपडेके भीतर पुरुषशरीर है, वह अलग है। कपडेमे रहकर भी कपडेके स्वरूपमे नही है, अपने ही स्वरूपमे है। ऐसे ही इस देहके भीतर रहकर भी यह मैं इस देहरूप नही हूँ, न मुझरूप देह है। देहमे रहकर भी इस देहसे विपरीत सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। ऐसे देहसे स्पष्ट पृथक् निज आत्मतत्त्वको ग्रहण करने वाले ज्ञानी जीव किसी भी अन्य पदार्थकी अवस्थासे अपनेको उस रूप नही देखते है। खोटा परिणाम हो तो उसे ज्ञानी हानि समझता है। विशुद्ध परिणाम जगे तो उसे यह लाभ समझता है। इसके समक्ष जड धन सम्पदाका कोई मूल्य नही है।

परपरिणतिके यथार्थ ज्ञाताके खिन्नताका अभाव - जैसे जीर्णवस्तुको छोडकर नवीन वस्त्रको धारण करनेमे कोई पुरुष क्लेश नही मानता है। ऐसे ही प्रवर्तमान शरीरको छोडकर नवीन शरीरको ग्रहण करनेमे किसी भी ज्ञानीने खेद नही माना, अटक नही माना है, इसी कारण वह निर्भय होता हुआ आत्मस्वरूपको देखता मानता रहता है। अन्तर्यामी पुरुष स्व और परके भेदका यथार्थ ज्ञानी होता है, इस कारण पुद्गलका कोईसा भी परिणमन हो उन परिणमनोको देखकर खेदखिन्न नही होता है। अज्ञानी जीव तो मकानकी एक ईंट खिसक जाय तो उसके चित्तमे भी कुछ खिसक उत्पन्न हो जाती है।

निगोदकी कवायतका अभ्यास— अज्ञानी जीव किसी चेतनपर इतना मोह कर लेता है कि वह उसके सुखमे अपनेको सुखी समझता है और उसके दुःखमे अपनेको दुःखी समझता है यो कह लीजिये कि उसकी श्वासमे इसकी श्वास है। ठीक कर रहा है यह अज्ञानी, क्योकि इस भवको छोडकर आगे निगोद पर्याय मिलेगी तो निगोद पर्यायमे यही काम करना पडेगा ना, वहाँ एक श्वासमे सभीकी श्वास है, एक जीव जन्मता है तो अनन्त निगोद जन्मते है, एक जीव मरता है तो अनन्त जीव मरते हैं। शरीर एक है, स्वामी जीव अनेक है ऐसी स्थिति होती है निगोदमे। सो निगोदमे जायगा तो वहाँ यह कवायत करनी पडेगी कि श्वासमें श्वास मिले, जन्ममे जन्म मिले, मरणमे मरण मिले सो यह अभ्यास यह अज्ञानी पुरुष कर रहा है। अपना इष्ट मानेगा स्त्री पुत्र परिजनको। उनके सुखमे सुखी है, उनके दुःखमे दुःखी है। ये सब कवायतें निगोदमे करनी पडेगी उसका ही अभ्यास हो रहा है।

ज्ञानीका ज्ञातृत्व —ज्ञानी जीव तो अपने पाये हुए शरीरसे भी अपनेको न्यारा निरख रहा है। कैसा विशुद्ध ग्रहण है ज्ञानीका। जैसे बहुतसी मिली हुई चीजोंमें से चुम्बककी सूई लोहेकी सूईयोको समेट लेती है, ईट आदि सब टुकडे पडे रह जाते हैं ऐसे ही यद्यपि यहाँ सब कुछ भरा पड़ा है, पर यह ज्ञानी अपने भावरूपी उपयोग दृष्टि के चुम्बकसे इन सबमे से केवल स्वरूपको ग्रहण कर लेता है। ऐसी जिसकी दृढ स्वरूप दृष्टि है वह मरणकालमें भी भय नही करता है और निर्भय रहता हुआ ज्ञाता द्रष्टा रहता है।

व्यवहारे सुषुप्तो य स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥

व्यवहारसुषुप्तिमे आत्मजागृति जो जीव व्यवहारमें सोया हुआ है वह आत्माके सम्बन्धमे जागृत रहता है और जो आत्माके विषयमें सोया हुआ है वह व्यवहारमे जागृत रहता है। यहाँ सोनेका मतलब है बेखबर, कुछ न करने वाला। जो जीव व्यवहारमे बेखबर है, व्यवहारसे उदासीन है, व्यवहारकी प्रवृत्ति निवृत्तिरूप चेष्टावोंमें जो नही फंसता है, अनासक्त रहता है, व्यवहारका प्रयत्न नही करता है वह आत्माके सम्बन्धमें सावधान जागृत रहता है, किन्तु जो आत्माके सम्बन्धमे सोया हुआ है जिसे आत्मतत्त्वकी कुछ भी सुध नही है, मैं क्या हूँ अपने सहजस्वरूपका रंच भी भान नहीं है ऐसे आत्माके सम्बन्धमे बेखबर सोया हुआ जीव व्यवहारमे जगता है।

सुषुप्ति और जागृतिका विश्लेषण —किसी जगह सोनेको अच्छा माना है और जगनेको बुरा माना है। जैसे तीन स्थितियां बतायी गयी है— जागृति, सुषुप्ति और अंत प्रज्ञ। यह वेदांत दर्शनमे हैं। जागृति तो बुरी चीज है सुषुप्ति उससे अच्छी चीज मानी है और अंत प्रज्ञ उससे उत्कृष्ट अवस्था है, उस सिद्धांतमे यह दृष्टि रखी है कि जो बहुत प्रयत्न करता है चेष्टा करता है वह तो जगने वाला है और जो सोये हुए की भांति समाया हुआ है, सिमटा हुआ है वह है ज्ञानीपुरुष और जो सर्वज्ञ हो जाता वह है अंत प्रज्ञ। बातमें कुछ अन्तर नही आया। जब कभी सोये हुएका अर्थ बेखबर लें, कुछ पता नही है, कुछ सही काम ही नहीं कर सकता है तो उसका नाम है सुषुप्ति, वह हुई जघन्य अवस्था, और जो विवेकशील हैं जागता है, सावधान है वह स्थिति हुई जागृति, यह है ज्ञानकी अवस्था। और, जहाँ निर्दोष सर्वज्ञ हो जाता है वह है अलौकिक अवस्था, इस श्लोकमें सोनेका और जागनेका कोई एक अर्थ नही बांधा गया है। व्यवहारमे सोया हुआ है यह है ज्ञानीकी स्थिति और आत्माके सम्बन्धमे सोया हुआ है यह है अज्ञानीकी स्थिति। यो कहलो अथवा यों कहलो कि जो आत्मामें जगा हुआ है वह तो है ज्ञानीकी स्थिति, जो आत्मामे सोया हुआ है वह है अज्ञानीकी स्थिति।

व्यवहारजागृतिमें आत्मसुषुप्ति—जो पुरुष बाह्य परिग्रहोंका त्याग करके भी तन, मन, वचनकी चेष्टावोंमें ही धर्म समस्याका सुलझाव समझते हैं, यो बैठना, यों

अतएव ये व्रत आदिक व्यवहारकी वृत्तियाँ सहज होती हैं, किन्तु अज्ञानी तो उन तन, मन, वचनकी प्रवृत्तियोको निभाकर यह संतोष करता है कि हमने मुनि व्रत पाल लिया अथवा अपना धर्म पूरा निभालिया ऐसा संतोष करता है, सो यह व्यवहारमे जगा हुआ कहलाता है और आत्माके विषयमे सोया हुआ है।

निश्चय व व्यवहारमे मुख्यता व गौणता – जैसे एक भोजनका ही प्रकरण ले लो। आहार शुद्ध बनानेमे दो शुद्धि चलती है— एक तो भोजनकी शुद्धि—भोजन निर्दोष जीवबाधारहित मर्यादित होना चाहिए—यह तो है भोजनकी शुद्धि। और, दूसरी शुद्धि है चौका, कपडे, बनाने वाला, ये सब बहुत शुद्ध होने चाहिये। परके लेप से रहित कोई छू न सके इस तरह होना चाहिये। ठीक है फिर भी प्रत्येक पुरुषके इन दोमे किसी एकपर प्रधान दृष्टि होती है और एकपर गौण दृष्टि होती है। जैसे इनमे अन्तर है, वैसे ही अज्ञानीके निश्चय और व्यवहारमे अन्तर है। जिसकी प्रधान दृष्टि गुण दृष्टिकी है, आत्मविकाशकी है, आत्मोन्मुखताकी है वह व्यवहारमे सोया हुआ है। भले ही सर्व प्रवृत्तियाँ आगमानुकूल हो रही हैं, पर सहज हो जाती है अर्थात् उसमे ऐसी योग्यता पडी है कि अयोग्य प्रवृत्तियाँ नही होती है। ज्ञानदृष्टिवाला पुरुष क्या विषय कषायोमे फसने वाली प्रवृत्तियाँ करेगा ? नही कर सकता है, तो सीधे सहज ही उसके आगमानुकूल वृत्तियाँ चलेंगी, और जो व्यवहारमे ही जगा हुआ है, जो कुछ आखो दीखता है यह सच है, यह श्रावक है हम साधु है, हमको इस तरहसे चलना चाहिये तब तो हम साधु हैं, इन श्रावकोसे हमारा विशिष्ट पद है, हम प्रतिमावोसे भी और ऊपरका आचरण रखने वाले है, हमारी क्रियावोमे कोई कमी नही रहना चाहिये नही तो इन श्रावकोमे फिर धर्मकी अप्रभावना हो जायगी। कैसी धर्मकी धुन है, मगर ये सब धुन बाहरी धुन है। इनमें आन्तरिक मर्मका स्पर्श नही है। ऐसी ही बात सहज रूपसे ज्ञानी साधुवोकी भी हो जाती है, पर सारा फर्क मुख्यताका और गौणका है।

आशयभेदके अन्तर— जैसे कोई पुरुष जीनेके लिए खाया करते है और कोई पुरुष खानेके लिए ही जिया करते है। एकका ध्यान है कि जीना जरूरी है, क्योकि आत्महितका काम बहुत पडा है इसलिए खाना ही चाहिए। एक खाकर भी उद्देश्य धर्मका बनाये है अतः उसके पुण्यबध है। एक पुरुष सोचता है कि खूब खावो पियो मौज उडावो इसीलिए तो मनुष्य हैं। कीडे मकोडे पशु पक्षी इनको कहाँ नसीब है, अगर हुए है मनुष्य और मिले हैं अच्छे हाथ पैर, अच्छे साधन मिले है. अब भी न खाये न बढिया साधन बनाये तो मूर्खता है कुछ ऐसा भी सोचने वाले हैं इन दोनो ने खाया तो सही, प्रवृत्ति तो समान है, यह भी खा रहा है, वह भी खा रहा है, पर आशयके उनके भेदसे अन्तरमें बडा अन्तर हो गया है।

परस्पर विरुद्ध भावोका एकत्र अभाव– जैसे एक म्यानमें दो तलवार नही समा सकती है अथवा एक सूई कपडेको दोनो तरफ नही सी सकती है अथवा एक साथ दो दिशावोमे नही चला जा सकता है। कानपुर भी जाना है और जसवतनगर भी

जाना है तो एक साथ दोनो जगह हो आयें ऐसा नही हो सकता है । ऐसे ही एक आत्मामें भी दो विरुद्ध परिणतियाँ नही हो सकती हैं । या तो व्यवहारमें आसक्ति रहे या आत्मदृष्टि बनाये । व्यवहारके काममें भी चित्त लगाये रहे और ज्ञानदृष्टि भी बनी रहे ये दोनो बातें एक साथ नही हो सकती हैं ।

रोगोकी गुप्त चोटें- इस राग भावमें जो कि इतना गुप्त बनकर रहा करता है कोई-कोई पुरुष अपनी मालूमातमें ऐसा समझते हैं कि मुझे कोई झंझट ही नही हैं और न किसीमें हमें राग है न द्वेष है, हमें सब एक हैं, घरमे रह रहे हैं काम सब कर रहे हैं और ऐसा भी मालूमातसा हो रहा है कि मेरेको न बच्चेसे राग है या किसीसे है न किसीसे द्वेष है, लेकिन भीतरमे राग बराबर लगा हुआ चला जा रहा है । न हो ता राग तो आत्मानुभव बना रहता खूब, पर आत्मानुभवके दर्शन नही होते । यह एक बडा प्रमाण है कि हमारे अन्तरमें रागभाव बराबर पडा हुआ रहता है ।

रागसंस्कारोके दर्शनका साधन—कभी-कभी रागोके विषयोकी गिनती भी नहीं मालूम पड पाती है । काममें लगे हैं, कोई एक काम जिसको जिसकी धुन है मुख्य बन गया है, काममें लगे हैं, अथवा आजीविकाका ही कोई काम है, धनसचयकी ही एक धुन बनी है तो व्यापारमें लगे हैं, किसी काममे लगे हैं उस समय ऐसा लगता है कि मुझे किसका राग है । पुत्रका, मित्रका, स्त्रीका, पोजीशनका किसीमें भी तो राग नही है । लगता है ऐसा, किन्तु राग कितने पडे हुए हैं इसका सुगमतासे दर्शन करना है, तो उसका सीधे दर्शन करनेके साधन दो हैं, एक तो सामायिक और एक स्वप्न । हमारे भीतरमे कितना राग पडा है उसकी मालूमात सामायिकमें पड जाती है । कोई दूकानमे लग रहे हैं तो कितना राग है, इसकी कुछ खबर नहीं है, पर जाप ले करके पाल्थी मारकर जरा सामयिकमें बैठ तो जाओ अथवा पद्मासन करके हाथपर हाथ रखकर सामयिकमें बैठो तो कितनी जगह दिल जाता है, कहाँ कहाँकी कल्पनाएँ उठती है, क्या-क्या दृश्य दिखते हैं जरासी देरमे कहाँ उड गये, कहाँ जा रहे हैं । वे सारी गिन्तियाँ कुछ-कुछ सामयिकमे गिनलो कि हमारा इतनी जगह राग है ।

रागसंस्कारोके दर्शनका द्वितीय साधन—रागके विषयोंकी विविधताका, जब कोई स्वप्न आ जाय तो उस स्वप्न से भी अदाज कर लो । जैसा चित होगा वैसा स्वप्नमे आयगा । स्वप्नमें बनावट नही चल सकती हैं, इसके लिऐ वही भाव प्रत्यक्ष हो जायगा जिस भावमें वर्त रहे थे पहिले । कोई मायाचारी पुरुष है वह जगते हुए में तो मायाचार करले अर्थात् अन्तरके भाव किसी दूसरेको प्रकट ही न होने दे । ऊपरसे खूब हाथ जोड रहे हैं, बडे नम्र वचन बोल रहे है, मनकी बात प्रकट नहीं होने देते हैं, जगते हुएमें करते जाओ मायाचार, पर स्वप्नमें तो जैसा हृदय है वैसा ही परिणमन दिख जायगा । फिर समझ लेना कि कितना राग बसा हुआ है ।

अनर्थका स्रोत—यह सब राग अपनी बरबादीके लिए है । साथ तो कुछ जायगा नही, शरीर तक भी न जायगा केवल अकेला, ज्ञानवान यह जीवास्तिकाय

उदयवश कही पहुँच जायगा, पर यह देह जरा भी न जायगा। धन सम्पदाकी तो कहानी ही क्या है। यह सब ठाठ यही पडा रह जायगा। कितना धन जोड़नेके लिये अन्यायका परिणाम किया जा रहा है। जुड गया बहुत कुछ तो एक बारमें ही छोडकर जा रहे हैं, तत्त्व क्या निकला ? कितना असहाय है यह जगत। यहा जीवन भर श्रम किया धनका सचय किया, अब अचानक ही सब कुछ छोडकर जाता है। लाभ क्या हुआ ? कदाचित् यह सोचो कि भले ही हम छोडकर जा रहे हैं, ठीक, मगर हम अपने बच्चोके लिये तो छोडकर जा रहे है। आत्मन ! तेरा कहाँ कौन बच्चा है, कौन है तेरा ? इस भ्रमने ही तो तुझे बरबाद किया है। जगतमें जितने जीव हैं सब एक समान अपनेसे अत्यन्त जुदे हैं, रच भी सम्बन्ध नही हैं, पर कुछ तो अपनी कमजोरी और कुछ दूसरे जीवोसे मनुष्यसे, स्त्रीसे, पुत्रसे कुछ राग भरी बात और चेष्टाएं मिली इससे यह मोहका सम्बन्ध तगडा होता चला जा रहा है।

आत्मसावधानीका अनुरोध—यह राग अश जब तक रहता है तब तक यह जीव आत्मानुभवका पात्र नही हो सकता है। राग द्वेष भावका कार्य ही आकुलता को उत्पन्न करता है। जो इस भावमें जगता है वह आत्माके विषयमें बेसुध है। तो ये दोनो बातें, क्या कि आत्माकी उपासना हो जाय और व्यवहारके विषयोंके ये सुख भी न छूटें, मैं इस मायामयी दुनियामें अपना नाम भी कर जाऊँ और परमार्थ विशुद्ध निराकुलताका आनन्द भी लेलू ये दो यत्न एक साथ नही हो सकते हैं। अब जरा दूसरी बात यह भी देखिये कि व्यवहारकी नामवरीको छोडना यो इस दुनियाके लिए मैं कुछ न रहा, और आत्माका लगाव छोडकर इस व्यवहार के स्वरोमे ही लगते हैं तो मैं ज्ञानियोके लिए और अपने लिए कुछ न रहा। पर यह तो सोचो कि मैं अपने लिए अपनी दृष्टिमें अथवा ज्ञानी सन्तोकी दृष्टिमें बुरा बना रहूँ यह नुकसानदेह है या इस मायामयी दुनियाकी निगाहमे मैं न जँचूँ यह नुकशानदेह है। दिखती हुई दुनियामें अपने लिए कुछ नही है। यहा किन्हीं लोगोमे मेरा यश हो, किन्ही लोगोके चित्तमें मेरे लिए घर हो तो इससे कही परभव न सुधर जायगा, अथवा इस लोकके भी सकट न मिट जावेंगे। सकट तो कही बाहर है ही नही। जैसा मनसे हम सोचें उसके अनुकूल सुख अथवा दुख हो जाया करता है।

परमार्थ जागरणका यत्न—भैया ! हम अपनेमे जगें, अपनेमें प्रकाश पाये आत्मप्रकाशसे हमारा समस्त भावी अनन्तकाल प्रकाशमय रहेगा, आनन्दमय रहेगा और अपने बेसुधपनेसे इस मायामयी दुनियामें उपयोगके रमानेसे हम जन्ममरणके सकट ही पाते रहेगे। इस कारण अपने आपमें जगना और व्यवहारसे बेसुध रहना यह है कल्याणका मार्ग। व्यवहारमें आदर न करते हुए, आसक्ति न रखते हुए हम बहुत-बहुत काल केवल ज्ञानस्वरूपका अनुभव न करके शुद्ध आनन्दसे तृप्त रहा करें इसमे ही आनन्द है और भलाई है।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥

अपने आत्मामे अपने आत्माको देखकर और बाहरमे देहादिकको देखकर उन दोनोंमें भेदविज्ञान करनेसे और उस ज्ञानके अभ्याससे यह जीव ऐसी अवस्थाको प्राप्त होता है कि जहासे फिर यह च्युत नही होता ।

व्यामोहके समूल विनाशके उपायक्रमोमे प्रथम पर्याय ज्ञानरूप उपाय इस जीवको अनादि कालसे पर्यायका बोध है पर्यायका पर्यायरूपसे बोध नही, किन्तु पर्यायको आत्मस्वरूप माननेके रूपसे बोध है ऐसा इस पर्यायमुग्ध जीवको इस पर्यायव्यामोहके गर्तसे बचानेका क्या उपाय है वह उपायक्रमसे सुनिये । प्रथम तो उस ही प्रकारके पर्यायका ज्ञान बनने दीजिए जो करणानुयोगमें मार्गणावोके स्थान बताये हैं, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व और आहारक इनका जो भेद विस्तार कहा है वे सब पर्याये हैं । पर्यायोका खूब ज्ञान कीजिए, पर्यायें अध्रुव होती है अर्थात् अनादि अनन्त नही होती हैं, कभी हुई है और मिट जाती हैं ।

व्यञ्जन पर्यायोंका परिज्ञान— जैसे नरकगति, यह जीवबद्ध पर्याय है । नरकगति प्रारम्भसे ही जीवमें नही है, और न किसीके अनन्त काल तक रहेगी । यह नरक गति पर्याय है तिर्यञ्चगति भी प्रारम्भमें नही है । मनुष्य गति और देव-गति भी इसी प्रकार अध्रुव है ,गतिरहित अवस्था यद्यपि अनन्त काल तक रहेगी यानि सिद्ध होनेके बाद सिद्ध फिर ससारी नही बनता, वह सिद्ध ही रहा करेगा, लेकिन यह गतिरहित अवस्था इस जीवमें प्रारम्भमे न थी, किसी दिन प्रकट हुई है इस कारण यह भी पर्याय है, गतिरहित शुद्ध व्यञ्जनपर्याय है इस कारण इसमें प्रतिसमय नवीन नवीन अवस्थाओका बनना नही विदित होता है ।

गुणपर्यायोंका ज्ञान— ज्ञान भी एक गुण है और उसकी पर्याय ८ है । मति श्रुत, अवधि, मन पर्यय, केवल और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि इनमेंसे कुछ पर्याय तो बहुत जल्दी समझमें आती है कि यह हुयी और मिट गयी । अभी मतिज्ञान हो और थोडी देरमें मिट जाय, श्रुत ज्ञान हो गया, अवधिज्ञान हो गया है और जल्दी बदलकर फिर दूसरे हो जाते है । समझमें आता है, पर केवल ज्ञानके बारेमें यह सोचना जरा कठिन हो जाता है कि केवल ज्ञान हुआ और फिर क्या केवल ज्ञान मिट गया ? केवल ज्ञान होनेके बाद फिर वह ज्ञान मिटता नही है, लेकिन वह ज्ञान गुणकी पर्याय है, सूक्ष्म दृष्टिसे देखो तो जैसे केवल ज्ञान परिणमनसे इस समय सारे विश्वको जाना तो इसके बादके दूसरे समयमें जो सारे विश्व का जानन हुआ वह दूसरा केवल ज्ञान है । ऐसे ही प्रति समय नवीन नवीन केवल ज्ञानका उदय हो रहा है, किन्तु जानता है वैसा जैसा कि पहिले जानता था ।

दृष्टान्तपूर्वक केवल ज्ञानकी वर्तनाका समर्थन – जैसे एक पुरुष सिरपर एक मनका बोझ रखेहुये खडा हैं ज्योका त्यो, जरा भी नही हिलता डुलता, आध घटेसे बराबर खडा हुआ है, अब मोटे रूपमें तो यो दिखता है कि इस आत्माने कोई दूसरा काम नही किया, वही काम आध घटेसे ज्योका त्यो कर रहा है खम्भासा खडा हुआ वैसाका वैसा ही वही एक काम है, नया दूसरा काम कुछ नही कर रहा, पर उस पुरुषमें प्रति सेकेन्ड नया नया काम हो रहा है, नवीन, नवीन शक्ति खर्च हो रही है, प्रति समय ताकत लगाये चला जा रहा है। यदि शक्तिका प्रत्येक क्षण परिणमन हो रहा है तो वहां भी नया ही नया काम कर रहा है। चाहे वैसाका वैसा हो किन्तु काम तो नया ही नया हो रहा है। ऐसे ही केवल ज्ञान नवीन नवीन प्रकट हो रहा है हो रहा है केवल ज्ञान ही ज्ञान। विसदृश ज्ञान नहीं होता है। लेकिन जानना प्रति समय नया ही नया हो रहा है, जानना वही है।

पर्यायोके स्रोतभूत गुणका परिज्ञान—भैया! पहिले पर्यायका खूब ज्ञान करना चाहिये, फिर यह समझो कि जितनी भी दशाएँ है वे सब दशायें एक शाश्वत गुणकी हुआ करती हैं। एक अवस्थासे दूसरी अवस्थायें हुई तो वे नालेके किनारे जैसी अलग अलग नही हैं उन दोनोके मध्यमें एक तत्त्व है जो पहिले किसी दूसरी अवस्था रूप था। अब किसी दूसरी अवस्थारूप हो गया। जैसे आममें रग बहुत बदलते हैं। जब बहुत छोटा आम है तब उसमें काला रग होता है, जब कुछ बडा होता है तो नीला रङ्ग हो जाता है और बडा हुआ तो हरा रङ्ग हो गया, और बढनेपर पीला हो गया, खूब पकनेपर लाल हो गया, और जब सडने लगता है तब सफेद बन जाता है आममे सब रङ्ग आ जाते हैं क्रम-क्रमसे, पर जैसे नीलेके बाद हरा रङ्ग आया है तो नीला और हरा दो स्वतत्र अलग चीजे नही है। जो रूप नीली अवस्थामें था वही रूप अब हरी अवस्थामे हो गया। रूप गुण वही है।

गुणोका अभेद एकत्व— गुण एक शक्तिका नाम है जो चिरकाल रहता है, किन्तु गुणकी जो अवस्था है वह पर्याय है वह होती है और मिट जाती है, तो पहिले पर्यायोका अध्ययन हुआ फिर यह पर्याय किस गुण-शक्तिकी है ऐसी शक्तियोका अध्ययन हुआ, फिर यह जानना चाहिए कि ये सब शक्तिया बिखरे हुए तत्त्व नही हैं, किन्तु वहाँ पदार्थ तो, सत् तो कुछ एक ही है, उस सतकी यह विशेषता जानी गयी है। उस सतमें अनन्त प्रकारकी शक्तियां हैं। इस प्रकार गुणके परिज्ञानके बाद फिर द्रव्यको जानो, इस तरह जैसे अपने द्रव्य गुण पर्यायको जाना, ऐसे ही बाह्यमें अन्य पदार्थोके द्रव्य गुण पर्यायको जानो।

चेतनकी विविक्तता—जानमें जितना जो कुछ बनेगा वह सब चैतन्य स्वभावको व्याप करके बनेगा। कही पुद्गलके परिणमनरूप न हो जायगा। पुद्गल भी जो कुछ भी बनेगा वह पुद्गलके गुणोको न लांघ कर उन गुणोको ही व्यापकर पर्याय बनेगा। यो यह चेतन चैतन्यात्मकताको व्यापकर ही परिणमता है और येदृश्य-मान अचेतन पदार्थ अचेतन स्वरूपको व्यापकर ही अपना परिणमन करते हैं, यह तो है

और अचेतनके भेद भावकी वात । मैं चेतन वाकी समस्त अनन्त-चेतनके स्वरूपमें व्यापकर न परिणमता हुआ उन सबसे विविक्त रहकर केवल चैतन्य स्वरूपको ही व्यापकर परिणमता हूँ ऐसा देहादिकमें और आत्मामें स्पष्ट भेद जानो और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्ताभाव है ऐसे ही ज्ञाता वने रहो जिससे आत्मामे विकल्प होनेका अवकाश ही न आये। यो भेद विज्ञानके अभ्याससे और पश्चात् अभेदस्वरूपके ज्ञानके अभ्याससे यह जीव ससार पर्यायको छोडकर मुक्त हो जाता है।

अभ्रान्त दशामे शुद्ध विलास—भैया ! जव तक भ्रम रहता है तव तक ज्ञानकी गति और किस्मसे चलती है। जहाँ भ्रम खतम हुआ तो ज्ञानकी गति और किस्मसे चलने लगती है। राजवार्तिकमे एक दृष्टान्त दिया है कि एक पुरुष व्यभिचारी था, किसी अन्य स्त्रीका अनुरागी था और उस पुरुषकी माँ, वह भी किसी अन्य पुरुषकी अनुरागिणी थी। इसमे भ्रमका उदाहरण दिया जा रहा कि भ्रममे कैसी वृत्ति हो जाती है सम्यग्ज्ञानका भी उदाहरण दिया जा रहा है कि ज्ञानकी झलक आनेपर कैसा निर्णय हो जाता है और कैसा खुदका प्रवर्तन होता है। दोनो भिन्न-भिन्न समयोमे रात्रिको घर छोड कर कही जा रहे थे। इधरसे वह लडका जा रहा था। सामनेसे माँ आ रही थी, रात्रिका समय, अधेरी रात्रि, मात्र कोई है इतना ही दीखता था। वहाँ पुत्रने यह समझा कि वह हमारी अनुरागिणी स्त्री है और माँने समझा कि यह अनुरागी ही पुरुष है। सो इस भ्रमसे उनका चित्त, उनकी वृत्तिमे दुर्भाव होनेको रहा था इतनेमे विजली चमकी एक दप झक्कारा सा हुआ और कुछ दूरसे ही दोनो ने दोनोको पहिचान लिया। अव इसके वाद ऐसे शुद्ध ज्ञानका प्रकाश जगा कि वे दोनो पछतावा करके दूर हट गये। भ्रममे भ्रम जैसी प्रवृत्ति होती है और ज्ञान होनेपर ज्ञान जैसी प्रवृत्ति ही होनी पडती है।

दृष्टान्तपूर्वक अभ्रान्त दशामे धीरताका विवरण — भैया ! अव और, भी दृष्टान्त लो, सामने रस्सी पडी है उसमे सापका भ्रम हो गया। अपने इस भ्रमके होनेपर उस भ्रमी पुरुषको वैसी ही आकुलता होगी जैसी सापसे भय करनेवालेको होती है। कुछ देर वाद लक्षणसे पहिचाना, विशेष तेज उजाला किया और जान गया कि यह तो रस्सी ही है, तो रस्सीका ज्ञान करनेके वाद फिर देखलो उसके भीतरकी ज्ञानवृत्ति एकदम पलट जाती है, सारी अनुकुलता दूर हो जाती है। अच्छा, अपनी ही वात देखो, जव सोनेमे कोई स्वप्न आ रहा हो, शेर आ गया है, मेरे समीप आ रहा है, मुंह वाये चला आ रहा है, अव यह खानेको ही है, ऐसा स्वप्न आ रहा हो तो कितना रज होता है, और उस समय थोडी नीद कम हो जाय, कुछ जगने जैसी हालत हो जाय, कुछ जगतासा है और हिम्मत वनाता है, अरे मैं तो कमरेमे पडा हुआ हू, कहाँ है जगल, कहाँ है शेर ? उसे खुशी हो जाती है। चू कि भ्रममे दुखी था, स्वनमे क्लेश था, इस कारण स्वप्न मिट जानेपर क्लेश मिट गया

और उसने उसमे बडा आनन्द माना । ओह ! मैं न था शेरके पास । मैं तो सुरक्षित हूँ । कितने ही दृष्टान्त लो भ्रमकी हालतमे जो परिणति होती है भ्रम मिट जानेपर, ज्ञानप्रकाश होनेपर उसकी चित्तवृत्ति ही पलट जाती है ।

ज्ञानीका अलौकिक आनन्द - जब इस जीवने अपने आत्मामे अपने वास्तविक आत्मस्वरूपको देखा तो एक अद्भुत अलौकिक आनन्दका अनुभवन किया जो न इन्द्रियके आधीन है, न किसी परके आधीन है । सहज अपने आपमे प्रकट हुई वह अनाकुलता है उस आनन्दका अनुभवन कर लेनेपर उसकी वृत्ति अब विषयोंमे नही जमती है । जैसे स्वादिष्ट मिठाईके लोभीको स्वादिष्ट मिठाई खा लेनेपर उसे रूखी सूखी दाल रोटीमे रस नही मालूम होता है, ऐसे ही निरुपम सत्य स्वाधीन आनन्दका अनुभव कर लेने वाले ज्ञानी पुरुषको इन्द्रियके विषयोंमे अनुराग नहीं जगता है, उसमे आनन्दकी कल्पना भी नही करता । ज्ञानी पुरुष तो लखपती और करोडपतीकी हालतपर दया करता है मनमे उनके दया उत्पन्न होती है कि देखो कुछ भी तो तत्त्व नही है इन जड वैभवोमे कुछ भी तो सार नही है, अट्ट-सट्ट यों ही मिल गया । ये बाह्य पदार्थ हैं, निमित्त पुण्यका उदय है, मिल गये हैं लेकिन यह उस समागममे अपनी बुद्धि फसाकर बडा दुखी है । ज्ञानी जीव बाह्य वैभवमे रुचि रखने वाले अज्ञानी पुरुषपर दया करता है । जिसको ज्ञान जग जाता है और शुद्ध सहज स्वाधीन आनन्दका अनुभव हो जाता है, उसे फिर बाह्य विषयोंमे रुचि नही होती । उसकी दृष्टि अन्तर्मुख हो जाती है

अच्युत आनन्दानुभवकी विधिमे तथ्य परिचयकी प्राथमिकता— भैया, आनन्द पा लेना आपके अपने हाथकी बात है, पर उस पद्धतिसे चलें तो आनन्द मिले । यहांके मोही, मलिन अज्ञानी पुरुषोमे अपना कुछ सम्मान, यश, कीर्ति चाहनेकी बात बना लेना यह तो सरासर विपदा है । स्वप्नके समयमे क्या कोई जानता है कि मुझे यह स्वप्न आ रहा है ? वह तो साक्षात् घटना समझता है ऐसे ही मोहकी नींदका यह सब एक स्वप्न है । इस स्वप्नमे यह नही मालूम पड सकता कि यह सरासर मिथ्या है, व्यर्थ है । उसे तो सब कुछ यहा तथ्य ही दीख रहा है । इन लोगोने यदि मेरी बडाई कर दी तो मेरा जीवन है नही तो मरनेकी ही हालत समझिये । तो जहा ये कोई विषय नही है, एक आत्माके द्वारा आत्मस्वभाव ही अनुभूत हो रहा है ऐसे शुद्ध अमृतपानके बाद इस जीवको बाह्य विषयोंमे रुचि नहीं होती उसकी परिणति अन्तर्मुखी हो जाती है । वह विषयोमे न फसकर आत्माकी आराधनाकी ओर लगता है, आत्मध्यानको बढाता है और ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसी भावनाको दृढ अनुभवात्मक करके इसके शुद्ध विकासको पा लेता है । इसके बाद फिर इस उत्तम पदसे पतन नहीं होता है । यो यह जीव भी विज्ञानके बलमे अद्भुत अवस्थाको प्राप्त होता है

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥ ८० ॥

जिस आत्माने पहिले ही पहिले आत्मतत्त्वको देखा है उसे यह जगत पागलोकी तरह चेष्टा करने वाला दीखता है, किन्तु वही पुरुष जब आत्मज्ञानमे दृढ अभ्यस्त हो जाता है तब यह ही जगत काष्ट पाषाणकी तरह चेष्टारहित मालूम होने लगता है ।

हितके प्रारम्भमे जिज्ञासाका स्थान — भैया ! आत्माका विकास होनेके लिए सर्वप्रथम जो हितका प्रारम्भ होता है वह जिज्ञासासे होता है सबसे पहिले इस जीवमें यथार्थज्ञान पानेकी इच्छा होनी चाहिए । जिज्ञासाके लिए भी विवेक और प्रतिभा चाहिए । जब तक जिज्ञासा नही होती है, वास्तविकता क्या है मैं कौन हूँ यह ससार क्या है, मेरा ससारसे क्या सम्बन्ध है मैं इस जगतका क्या कर सकता हूँ, मैं क्या करता हूँ इत्यादि बातें जाननेकी जिसे इच्छा ही नही है वह धर्ममार्गमे कदम ही क्या बढ़ायेगा । जो जीव विषय भोगोंमे अत्यधिक आशक्त हैं, परद्रव्योके मोहमे अधिक लिप्त रहते हैं उन्हें यथार्थज्ञान करनेकी इच्छा नही उत्पन्न होती । उन्हें तो विषय चाहिए, विषयोंके साधन चाहिएँ । ज्ञानसे क्या प्रयोजन तो सर्वप्रथम इस हितमार्गमे चलनेके लिए जीवमे जिज्ञासा जगनी चाहिए ।

हितमार्गमे ज्ञानाभ्यासका स्थान - यह आत्मा जिस किसी भी प्रकार जिज्ञासु बन गया तो अब उसे ज्ञानाभ्यासी होना चाहिए । जो भी उपाय हों, गुरुसे पढना, पाठ याद करना, चर्चामे सामिल होना, स्वाध्याय करना अथवा दूसरोको उपदेश देने लगना हर एक सम्भव बातसे ज्ञानका अभ्यास बढाना चाहिए । हम सीखें कि पदार्थका स्वरूप क्या है । इस जीवने इस दुनियामें अनेक प्रकारसे विषयोके सुख भोगे और उनका ही यत्न किया, किन्तु वह सुख टिक नहीं सका, बल्कि उससे कई गुणे दु खोंको जुटाकर वह सुख मिट गया । अब जरा ज्ञानका भी तो आनन्द चखिये । हम वस्तुके बारेमें जब तथ्यकी बात, यथार्थ बात जानते हैं तो उस शुद्ध जाननेके फलमें कितनी प्रसन्नता होती है और कितना हम प्रकाशवान होते हैं इसका एक अन्दाज कर लो । विषय सुखोंमें और यथार्थज्ञानके आनन्दमें बहुत सा अन्तर है । अन्तर क्या, विषय सुख तो कुछ आनन्द ही नहीं है, वह तो मोहकी कल्पना है और विडम्बनावोका घर है । जिज्ञासु पुरुषको अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करके यथार्थज्ञानका अभ्यासी होना चाहिए । ज्ञानके अभ्यासके कितने ही उपाय हैं । उन सबमे से सीधा उपाय है गुरुमुखसे अध्ययन करना, और फिर इसके साथ ही साथ शेष भी उपाय करना । जैसे स्वय पढना, याद करना, दूसरोको बताना, उनसे पूछना, चर्चा करना और जानकारी बढानेके लिए वाद-विवाद करना ये सब ज्ञानका अभ्यास बढाने वाले उपाय हैं । उन उपायोको करके ज्ञानाभ्यासी होना चाहिए ।

हितमार्गमे यथार्थज्ञानका अमोघ सहयोग इस ज्ञानाभ्यासके प्रतापसे व तुओका यथार्थ ज्ञान होजाता है, यथार्थज्ञान साधारण और असाधारण गुणके माध्यम

से हुआ करता है हम लोकमे भी किन्ही पदार्थोका देखते हैं तो कई बातोंमें ये पदार्थ एकसे नजर आते है और कुछ वातोमे ये पदार्थ एक दूसरेसे न्यारे नजर आते हैं। जिन वातोमे पदार्थ न्यारे नजर आते हैं वे हैं असाधारण गुण और जिन बातोमे पदार्थ एकसे नजर आते है वे है साधारण गुण। जैसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये सभी द्रव्य किन्हीं वातोमे एकसे नजर आ रहे है। जैसे सत्त्व सभीका सत्त्व है, सभी हैं, है की अपेक्षासे सभी पदार्थ समान है। वे सव अपने ही स्वरूपसे तो हैं परके स्वरूपसे नही है और इसी कारण उन पदाथोमे अर्थक्रिया होती है। यह वात सव पदार्थोंमे समान है। जीव परिणमता है, निरन्तर परिणमता है तो क्या और शेष द्रव्य नही परिणमते हैं। वे भी निरन्तर परिणमते है परिणमनकी दृष्टिसे सब द्रव्य समान है। यहा जीव अपनेमे ही परिणमता है, अपनेको ही परिणमाता है दूसरेसे असपृक्त रहता है, दूसरेको नही परिणमाता है, क्या यह बात शेष द्रव्योमे नही है। सभी पदार्थ अपने-अपनेमे परिणमते है, किसी दूसरेको नही परिणमाते हैं। तो ऐसे कितने ही गुण हैं जिनकी दृष्टिसे सव एक समान नजर आते हैं। अव वस्तुमे कुछ आगेकी वात देखिये वस्तुमे कुछ गुण ऐसे है कि जिनसे भेद नजर आता है। जैसे जीवका चैतन्य गुण। लो इस दृष्टिसे सब पदार्थोंसे न्यारा इस जीवको वता दिया। चैतन्य अन्य पदार्थमे है ही नही। तो यो साधारण और असाधारण गुणका परिचय करना यह एक यथार्थज्ञान है। इसका बहुत विस्तार है।

हितसाधक भेदविज्ञान, यहा सक्षेपमे इतना ही जानो कि यह पुरुष पहिले जिज्ञासु बनता है, पीछे ज्ञानाभ्यासी होता है और पीछे यथार्थज्ञाता बनता है। जो जैसा है उसे वैसा समझना, इस यथार्थज्ञानके प्रतापसे इसके भेद-विज्ञान प्रकट होते है। यो यह भेदविज्ञानी बना, जीव सवसे न्यारा है और यह मैं जीव सबसे और सर्व जीवो से न्यारा हूँ। कुछ लेना देना नही, कुछ सम्बन्ध नही, कुछ पता नही; थोडी देरका समागम है। किसी जीवको मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा कुटुम्बी है, और हैं सव जीव एक समान, यह तो इस जीवका मोह नीदका सपना है।। यह सब कुछ यो न पहिले था, न यह आगे रहेगा, सभी झूठी वातें है। मैं सवसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। मोही लोग यह कल्पना करके ही दुखी हो जाते हैं हाय मेरे घरके कोई जीव जुदा न हो जाए, कोई मेरा इष्ट गुजर न जाय, मेरी सम्पदा विघट न जाए, कम न होजाय, क्लेश ही क्लेश कर रहा है। अरे जव सम्पदा है, परिजन हैं तब भी यह जीव केवल अपने स्वरूपमात्र है और जव सम्पदा परिजन इष्ट जन न भी होगे तव भी यह जीव उतनाका ही उतना है जितना कि बहुत वडी सम्पदावोके बीचमे था। न जरा भी अव कम हुआ और न जरा भी पहिले वढा। यह तो अपने स्वरूपमात्र ही है। यह जीव यथार्थज्ञानके प्रतापसे भेद विज्ञानी हो जाता है।

ज्ञान और अज्ञानका प्रसाद—भैया! भेदविज्ञान ही अमृत है। जितने भी अव तक महान पुरुष हुए है अथवा परमात्मा हुए है, सिद्ध वने है वे सव एक भेद

विज्ञानके प्रतापमे बने है, किन्तु यह मोही जीव भेद विज्ञानकी चर्चाको भी असगुन समझता है। क्या कहा जा रहा है। मेरी स्त्री नहीं है क्या? यह मेरा पुत्र नही है क्या? यह कोई कहे जरा कि तुमने जीवन पाया है तो एक दिन जरूर मर जावोगे। ऐसी बात सुनते ही मोही जीवको गालीसी लगती है। क्या यह सत्य नही कहा जा रहा है। जब हमने जीवन पाया है तो क्या मरेंगे नहीं। पर कोई कह तो दे कि तुम कभी मर जावोगे। मोही प्राणीको मरनेका नाम अखरता है। बात सत्य है मगर मोहमें सुना नहीं जाता है। यह धन सम्पदा विघट जायगी। अरे विघटना तो है ही, हमारे जीवन भर भी रहे तो मरकर चले जायेंगे यो विघट जायगा अथवा जीवनमें ही विघट जायगा। ये सारी भेद विज्ञानकी बातें हैं, पर मोही को असगुन और गाली मालूम पड़ती हैं। पर, जब तक अपनेको सब परद्रव्योंसे भिन्न निज स्वरूपमात्र नहीं मान लिया जायगा तब तक शान्तिमे गति नही हो सकती है। यह पुरुष अपने यथार्थज्ञानके बलमे भेदविज्ञानी बनता है।

तत्त्वज्ञाता—भेद विज्ञानका फल क्या है? अभेद जो निज अन्तस्तत्त्व है उसका छककर दर्शन करते रहना। लोकमें आनन्द ही केवल एक निज स्वरूपके यथार्थ दर्शनमें है यह वैषयिक सुख, ये जगतकी बातें जब चित्तको स्थिर ही नहीं रहने देती तो उससे सुख शान्तिकी आशा करना तो बिल्कुल व्यर्थ है। एक आत्मा का एकत्व अपने आपके स्वरूपका ज्ञान और उसमें भी जो मेरा सहज स्वरूप है, शाश्वत है, स्वभाव है स्वत सिद्ध है उस स्वभावका पता कर लेना, उस तथ्यका परिचय होजाना यह तत्त्वज्ञता बहुत बडी निधि है।

आनन्दका मानक—भैया! धन सम्पदाके अनुपातसे आनन्दका लेखा-जोखा नहीं लगाया जाता है, किन्तु ज्ञानकी स्वच्छताके अनुपातसे आनन्दका ठीक ठीक लेखा जोखा लगाया जाता है। कितने ही पुरुष हैं, करोड़ोंकी सम्पदा है, घरमें लड़ाई बनी रहती है, स्त्री और पतिका मन नहीं मिलता, पुत्र पिताका मन नहीं मिलता, रात दिन दुःखी होते रहते हैं, और एक दूसरेके विरुद्ध नाना षड्यन्त्र रचने की सोचते रहते हैं। धनसे सुख कहाँ हुआ? जो विवेकी पुरुष हैं वे धनसे शून्य होकर भी आनन्दमग्न रहते हैं। पुराणोंमें ऐसी अनेक बातें हैं। श्रीराम सीता सब कुछ छोडकर वनमें रहे, पर कुछ उन्हें कोई क्लेश था क्या? शान्तिका अनुपात धन सम्पदासे नहीं लगाया जा सकता है। आनन्दका लेखा जोखा ज्ञानकी कलापर तो लगाया जा सकता है, पर बाह्य वैभवमे नही। मैं हर समय ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ उतना ही हूँ। न धन सम्पदामे मैं बढ गया था और न सम्पदाके मिटनेसे मैं कुछ घट गया हूँ। रही इस दुनियाकी इज्जतकी बात, सो दुनियामें तो पापी, मलिनमोही अज्ञानी पुरुषोका समूह है। ज्ञानी सन्त तो विरले ही हैं। ये अज्ञानी मोहीजो स्वय अशरण है, जो स्वय ससारमे भटकने वाले हैं वे स्वार्थवश कुछ प्रशसाकी भी बात बोल दें तो उसमे इसे क्या मिल गया? यथार्थ तत्त्वज्ञानी हो तो शान्ति लाभ हो सकता है।

प्रतिपन्नतत्त्वकी परिस्थिति—यह पुरुष पहिले जिज्ञासु हुआ, पीछे ज्ञानाभ्यासी बना। उसके फलमे यथार्थ ज्ञानी हुआ, भेद विज्ञानी बना और अब यह तत्त्वज्ञाता हुआ। अपने आपमे सहज सनातन जो शुद्धचित्स्वभाव है उसका इसे परिचय मिला। अब यथार्थतत्त्वका ज्ञान पानेके बाद अब यह जीव निज तत्त्वके ज्ञानको बनाये रहनेका अभ्यास कर रहा है। किन्ही भी पर पदार्थोंमे यह भरम न जाय, विचलित न हो जाय, यह निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहे ऐसा प्रयत्न जब किया जा रहा है तो उसे कहते हैं योगाभ्यासी। ज्ञानस्वरूपमे अपने उपयोगका योग करना, जोडना इसे कहते हैं योगाभ्यास। जिसने प्रथम ही प्रथम इस अन्तस्तत्त्वको जाना इस आत्मतथ्यको पहिचाना। ऐसे पुरुषोको यह दृश्यमान जगत उन्मत्तकी तरह प्रतिक्षण विरुद्धचेष्टा नजर आ रहा है। इसका कारण यह है कि इसने अपने आपमे यह पहिचाना है कि परमार्थ भूत यह मैं आमतत्त्व ज्ञानमात्र निश्चेष्ट हूँ। यह तो मैं भावप्रधान पदार्थ हूँ। और ऐसे ही ये सब जीव भाव प्रधान पदार्थ हैं किन्तु मोह रागवश ये कैसा यत्न कर रहे हैं यह इनकी उन्मत्त चेष्टा है।

मोहीकी उन्मत्त चेष्टाका दर्शन—जैसे कोई पागल पुरुष थोडी देरमे किसीको अपना बता दे, थोडी देरमे किसीको अपना बता दे ऐसे ही यह मोही पुरुष मनुष्य भवमे आया तो किन्हीको अपना बता दिया और मरकर देवगतिमे आ गया तो किन्हीको अपना बता दिया। तिर्यञ्च गतिमे आया तो किन्हीको अपना बता दिया। यह भी मोही पागलोकी तरह किन्ही किन्हीको अपना बताता फिरता है, और भव परिवर्तनकी ही बात नही है किन्तु इस एक ही मनुष्य भवमे जब तक कषायसे कषाय मिलती रही तब तक अपना-अपना गाता रहा और जब कषाय न मिलते देखी तो उसे अपना न माना गैर मानने लगा। यो यह मोही कषायके आवेग से अट्ट सट्ट अपनी कल्पनाएँ और मान्यताएँ बनाता है, ऐसा ही तो दीख रहा है। अब बाहरमे यह जगत उन्मत्तकी तरह चेष्टावान नजर आ रहा है इस योगाभ्यासीको।

निष्पन्न योगकी स्थिति—अब यह पुरुष जब इस आत्मतत्त्वके ज्ञानमे अभ्यस्त होजाता है, ज्ञानमात्र तत्त्व ही विशद दृढतासे अनुभूत होने लगता है इसे, तो बाहर भी यों दिख रहा है कि कौन चल रहा है यहा न चलता होगा जो कोई चलता हो किन्तु ये आत्मा तो सब निश्चेष्ट हैं। अन्य आत्मावोमे भी यह निश्चल निष्काम आमतत्त्व दीख रहा है, वह तो जैसा है तैसा ही है, यो देखकर उसे तो ये सब काष्ठ पाषाणकी तरह निश्चेष्ट नजर आते हैं। यो जिसने आत्मतत्त्वको प्रथम ही प्रथम देखा है उसे यह जगत् उन्मत्तकी तरह लगता है पश्चात् जब यह निज ज्ञानयोगमें निष्णात हो जाता है, अभ्यस्त हो जाता है तो जब स्वयकी ही वृत्ति बाह्य अर्थमें नहीं जाती, बाह्य विषयोमे नही जाती तो उसमे एक उदासीन भाव यहाँ निश्चल निष्काम सहज स्वभावका दर्शन होता है तब यही सर्वत्र दीखता है, प्रकट होता है।

०

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद् भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥ ८१ ॥

मोक्ष और मोक्षके यत्नका निर्देश – अशान्तिसे छुटकारा पानेका नाम है मोक्ष। मोक्ष शब्दका शब्दार्थ है छुटकारा पाना। संसारमें अनन्त संकट हैं। जन्मका, मरणका, शारीरिक व्याधियोंका और सम्बन्धके हर्ष विषादका, संयोग वियोगका, यश नाम कीर्तिकी चाहका, सम्मान अपमानका आदि अनेक संकट हैं। उन सब संकटोंसे छुटकारा होनेका नाम मोक्ष है। किसी भी चीजसे छुटकारा तब होगा जब यह श्रद्धा हो कि इस चीजसे मेरा छुटकारा हो सकता है। जिसे छुटकारा होनेकी श्रद्धा ही नहीं है वह कैसे छूट सकता है। छुटकारा होनेकी भी श्रद्धा तब हो सकती है जब परसे छूटा हुआ अपना स्वरूप देख लिया जाय। स्वभाव परसे छूटा हुआ है, इसमें अन्य उपद्रवोंका प्रवेश ही नहीं है ऐसी श्रद्धा हो तब संकटोंसे छुटकारा होनेकी श्रद्धा बन सकती है। संकट ही स्वभावमें बसे हुए हैं ऐसी बुद्धि बनी हो तो संकटोंसे छूटनेकी श्रद्धा नहीं हो सकती है और न उपाय बन सकते हैं।

मुक्तिके उपायोमे भेदविज्ञानकी प्रतिष्ठा— इस ही समस्त उपायको सक्षिप्त शब्दोमे आचार्योने बताया है भेद विज्ञान । शरीरसे यह मैं चैतन्यस्वरूप भिन्न हूँ । वचनोसे भी यह मैं चित्स्वरूप भिन्न हूँ और मानसिक जो सकल्प विकल्प होते है, विचार तरग होते हैं उनसे भी मैं भिन्न हूँ । यो सकस्त अनात्मतत्त्वोसे आत्माको पृथक् जानना भेद विज्ञान है । इसी प्रकार सर्व पर पदार्थोसे विविक्त निज स्वरूप मात्र आत्मतत्त्वका परिचय होना भेद विज्ञानका फल है । इस तत्त्वको उपाध्यायोसे, आचार्योसे गुरुवोसे वक्तावोसे खूब सुना भी तो भी सुनने मात्रसे शान्तिलाभ नही हो सकता है किन्तु अपने आपमे अपनी परिणतिसे उसे उतारे और अपनेमे प्रकाश देख सके तो मुक्तिकी पात्रता होती है ।

तत्त्वका मूल्याङ्कन —भैया तत्त्वकी बात सुनकर उसका मर्म न उतारा तो इस लोग लोकोक्तिमे कहते है कि इस कानसे सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया । एक ऐसा ही कथानक चला आता है कि किसी स्वर्णकारने पीतलकी धातुकी कोई दो पुतलियां बनायी । उन दोनो पुतलियो की सकल सूरत, आकार प्रकार बिल्कुल एक सा था । कोई भी अन्तर उन दोनो पुतलियोमे न दीखता था । वह राजदरबारमे उन दोनो पुतलियोको लेकर पहुँचा और बोला —महाराज ! मेरे पास ये दो पुललियाँ है, इनमेसे एककी कीमत तो २ रुपया है और एक की कीमत २ लाख रुपया है । लोग सुनकर आश्चर्यमें आ गये । सबने देखा कि दोनो एक-सी पुललियाँ हैं, इतना अन्तर कहाँसे आ गया ? बहुत विचार किया, पर परख न सके । तब राजाने कहा—ऐ स्वर्णकार ! तुम्ही बताओ कि दोनो पुतलियोकी कीमतमे इतना अन्तर क्यो है ? तब उसने बताया कि इस पुतलीकी कीमत है २), क्योकि देखो मैं इसके कानमे यह धागा डालता हूँ तो दूसरे कानसे निकल जायगा । और इस पुतलीकी कीमत २ लाख रु० है, इसके कानमें धागा डालता हूँ यह धागा पेटके अन्दर पहुँच जायगा । तो एक पुतली यह शिक्षा देती है कि कुछ मनुष्य हितकी बाते इस कानसे सुनते हैं और दूसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें अपने दिलमें उतारनेका यत्न नहीं करते है वे इस ससारमे भटकते रहते हैं, और दूसरी पुतली यह शिक्षा देती है कि कुछ मनुष्य हितकी बाते सुनते हैं और उन्हे अपने दिलमे उतारनेका यत्न करते हैं, वे शाश्वत आनन्दकी उपलब्धि कर लेते हैं । ऐसे जीवोकी ही हम आप पूजा और उपासना करते हैं ।

जीवपर अज्ञान सकट—इस जीवपर सबसे महान् सकट है तो अज्ञानका, मिथ्यात्वका । विषय सुख केवल कल्पनामात्र रम्य है । ये विषय सुख जीवके हितरूप नही हैं । अनेक सकटोसे ये विषय सुख भरे हुए हैं, किन्तु स्वकीय शुद्ध आनन्दका परिचय न होनेसे इस अज्ञानी जीवके विषयोमे, विषयोकी साधनामे ही रुचि बनी रहती है । और, पर पदार्थोमें जब तक लगाव रखा तो उनका तो वियोग होगा ही । इस जीवकी कल्पनावोसे कही वियोग रुक न जाएगा अथवा सयोग न हो जायगा तब यह अज्ञानी जीव दु खी होता है । जो अपने स्वानुभवसे अपना आनन्द स्वाधीन होकर लिया करते हैं उनको कही भी विघ्न नही है । जिनका पराश्रित भाव है परकी ओर

जिनका रागाव है वे सदा संक्लिष्ट रहा करते हैं, यह सब अज्ञानका प्रसाद है। इस जीवने हितकी बात सुनी तक भी नही, परिचयमें आना तो उसके बाद की कहानी है और अनुभवमें उतर जाना यह तो सर्वोत्कृष्ट विभूति है।

व्यामोहके कारण स्वयमे स्वयका अदर्शन- यहाँ यह कह रहे हैं कि ऐसे तत्त्वको केवल सुनने मात्रसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। सुने भी और मुखसे खूब बोले भी, सबको सुनाये भी, चर्चा भी करे, ऐसी चर्चा करे कि दूसरे तो अपना हित कर जायें पर स्वय उतारे नहीं तो इसे शान्ति नहीं मिली। सुनें तो भी और बोले तो भी उससे कार्य सिद्धि नही है जब तक कि इस भिन्न आत्माको भिन्न रूपमे स्वय न माने, किसको माना है, किसको लक्ष्यमे लेना है? वह है तो स्वय, पर विषय कषायों के परिणामोंमे उपयोग जब रंगीला हो जाता है तो स्वयकी ही सकल स्वयका ही स्वरूप स्वयको नही दीखता है, इसपर ही कितने रग चढे हुए हैं।

बाह्यविषयक आन्तरिक रङ्ग—प्रथम तो बाहरमे इस जड धन सम्पदामे जो ममता बनी हुई है यह रग चढा हुआ है। हैं सब अत्यन्त भिन्न पदार्थ। न जन्मते साथ आयें हैं और न मरने पर साथ जायेंगे और जीवन तक भी रहे आयें पास इसका भी कोई निर्णय नही है, फिर यह मान रहा है कि मेरा देह मकान परिवार मित्र जन सब कुछ है। इन सबको जो कि अत्यन्त भिन्न है, इसके स्वक्षेत्रमें भी अवगाहित नहीं हैं उन्हें भी मानता है कि ये मेरे हैं। खैर कभी बाह्य पदार्थोंको भिन्न कहनेकी आदत बन जाए तो यह शरीर रूप ही अपनेको मान लेता है, यह ही तो मैं हूँ। शरीरसे भिन्न मैं कोई शाश्वत तत्त्व हूँ इस ओर दृष्टि नही लगाता है।

आन्तरिक रङ्ग कदाचित् शरीरसे भी न्यारा कुछ सोचनेकी उमङ्ग आये तोयहाँ तक उमङ्ग रहती है, यहाँ तक ही उसकी जानकारी रहती है कि यह मैं वह हूँ जो बोलता है सुनता है, विचारता है, प्रेम करता है, कषाय विषय सुख भोगने वाला जो कुछ है सो ही मैं हूँ यहाँ तक उसकी बुद्धि रम जाती है लेकिन क्या मैं ये विचार वितर्क कषाय हूँ, मैं मिट जाने वाला नही हूँ, जिस तत्त्वके आधारपर ये राग रङ्गों का स्रोतभूत जो कुछ एक मूल पदार्थ है वह मैं हूँ। मैं रागादिक रूप नही हूँ ऐसा ध्यान करना चाहिए। ऐसा भी ध्यान किया और कुछ स्वभाव विकासकी ओर भी दृष्टि दी तो यह अटक हो जाती है कि एक शुद्ध जानन देखन है, ज्ञानप्रकाश है वह शुद्ध ज्ञान प्रकाश मैं हूँ। यद्यपि यह स्वभावके अनुरूप विकास है लेकिन शुद्ध जाननहार तो मैं प्रारम्भसे न रहा आया। जो कभी हुआ पहिले न था वह मैं नही हूँ। वह मेरा शुद्ध विकास है, उस शुद्ध विकासके अन्तरमे भी जो स्रोतरूप शाश्वत स्वभाव है वह मैं हूँ।

प्रवर्तमान स्थिति—भैया! परम विविक्त इस अतस्तत्त्वकी भावना जब तक न भायी जाय यह जीव मुक्तिका पात्र नही होता। समझ लीजिए कि हमें शान्ति लाभ लेनेकेलिए कहाँ उपयोग ले जाना उसके विरुद्ध हम कितना बाहर बाहरमे फँसे हुए हैं और तिसपर भी सबसे बडी विडम्बना यह है कि हम बाहरी पदार्थोंमे उपयोग लगाये

रहते हैं और उसीमे अपनी चतुराई समझते हैं, गल्ती-गल्ती रूपसे समझमे आये तो भला है, पर गल्ती करके उसहीमे अपनी चतुराई मान लेते है। तो जो गल्तीको चतुराई माने उसकी गल्ती कभी टूट नहीं सकती है।

प्रसगसे हटकर नि सङ्गमे आना— भैया, क्या किया जाय, जगतमे ऐसा ही सग है, ऐसा ही प्रसग है, यह मोही जीवोसे भरा हुआ है, यहाँ जिन्हे देखते हैं वही विषय कषायोमे फसे हुऐ है। उनकी वृत्तिको देखकर खुदमे भी यह भावना जगती है, वासना बनती है कि मैं बनूँ बडा, बाह्य पदार्थोंका करें सचय, लेकिन लोकमे अपना यश लूटें, कीर्ति उत्पन्न करें। लेकिन कीर्ति उत्पन्न करनेसे उत्पन्न नहीं होती है बनावट करनेसे कीर्ति नही हुआ करती है और हो भी जाय किसी भी प्रकार तो इस कीर्तिके कारण कीर्तिवानको कुछ लाभ नही होता है। लाभ नही होता है। लाभके मायने शान्ति। इस मनुष्यको, इस जीवको अपने सत् आचारके कारण सत् श्रद्धा और ज्ञान के कारण शाति हो सकती है, वाह्यके सचयपर, वाह्यके उपयोगपर शांतिकी निर्भरता नही है। जैसे जैसे इसको प्राप्त विषय भी अहितकर लगने लगते हैं, अरुचिकर हो जाते है और वैसे ही वैसे इसके अतस्तत्त्वमे दृढता होती जाती है और जैसे ही जैसे इसके शुद्ध ज्ञानप्रकाशमे दृढता होती जाती है तो ये सुगमप्राप्त विषय भी अरुचिकर होते जाते है।

आत्माकी वृहणशीलता— प्रत्येक पुरुषकी यह चाह रहती है कि मैं ऐसा व्यापार करू ऐसा काम करू जो मजबूत हो और सदा निभता रहे। थोडा लाभ हो, अध्रुव लाभ हो इसके वाद फिर उससे भी गये बीते जाये ऐसी वातको कोई पंसद नही करता है। प्रकृति है वढते रहने व वढे हुए रहनेकी इसकी। इसका नाम ब्रह्म है जो अपने गुणोसे वढनेका स्वभाव रखता हो उसे ब्रह्म कहते हैं। तव निर्णय करो कि ऐसा कौनसा काम है जिस कार्यसे हमे ऐसी अटूट, अमिट शाँति मिले कि जिसकी सीमा भी नही और कभी अत भी नही। पराधीन सुख इस शातिको उत्पन्न नहीं कर सकता है। वह तो पराधीन है, माना हुआ है। यह मान्यता ही स्वय अस्थिर है और जिसका आश्रय पाकर यह सुख होता है वह भी अस्थिर है और ये भोगने वाले परिणमन भी अस्थिर हैं। हम आप इस दुनियासे निवृत्त होकर एक अलौकिक एकत्वस्वरूप अपने आपमे पहुचे, यह मैं अकेला अपने आपसे ही वात-चीत करके सतुष्ट रह सकू, ऐसी स्थिति वन सके तो शातिकी पात्रता है।

एकान्तमे अज्ञानीकी ऊव और ज्ञानीकी तृप्ति- अज्ञानमे तो लोग अकेले रहनेमे भी घवडाहट मानते है, चित्त नही लगता है, अकेले है, किससे वात करे, विना वात चैन नहीं मिलती है। कोई न भी हो तो भी अपने पास पडोस को अपने आपके नजदीकके वनानेका यत्न करते है, दिल तो लगा रहे, समय तो कटे पर ऐसा समय कटनेमे कोई सुविधाका मौलिक अन्तर नही आता है क्योकि वे सव पराधीन वातें है। जिसके ज्ञानानन्दस्वरूप निज अतस्तत्त्वका निर्णय है और उसमे ही सतोप माना है

वे कभी ऊबते नहीं हैं कि हम अकेले रह गये तो अब किससे बातें करें। जब अज्ञान अवस्था आती है तब ही ऊब उत्पन्न होती है कि अब क्या करें। जब रागका तो उदय आये और रागका विषयभूत कोई न मिले तो बेचैनी उत्पन्न होती है। यह विकारका एक स्वभाव है पर जो अन्तरज्ञानी पुरुष है, अपने यथार्थ स्वरूपका दर्शी है उसे अकेले में ही आनन्द बरपता है, अपनेसे ही बात करता है, अपने को ही देखता रहता है, और जहाँ अपनेको देखने जाननेसे च्युत हुआ तो उसकी गिनती ससारी प्राणियोमे बहिर्मुख जीवोमे हो गयी। अब तो उसे वैसा ही रग चाहिए जिस रगमे ससारी जन अपनेको सुखी मान सकें। इस अतस्तत्त्वकी तब तक भावना भायें जब तक उस ज्ञायक स्वरूप निज आत्मस्वरूपमे ही प्रतिष्ठित न हो जायें जिसे कहते हैं ठीक फिट बैठ जाना।

कार्यकी प्रयोगसाध्यता— भैया, शान्तिका हम करें यत्न विफल न होनेपर हम यत्न न करें तो कैसे हम शातिके स्रोतको पा सकते हैं। एक बालक था दूसरोको तालाबमे तैरते देख आया था ना, सो माँसे बोला माँ री माँ, मुझे भी तैरना सिखा दे। हा बेटा तैरना सिखा दूगी। फिर बोलता है बच्चा, माँ तैरना तो सिखा दे पर पानीको छूनेसे मुझे डर लगता है पानी न छूना पडे और तैरना आ जाय। तो माँ कहती है कि बेटा यह तो कभी नही हो सकता है। भैया, भले ही किताबमे पढकर तैरनेकी सब विधियाँ याद करले — अब तो हर एक चीजकी किताब बन गयी हैं, ऐसे औंधे पानीमें पड जावो, दोनो हाथोसे पानीको इस तरह समेटते हुए चलावो। पानी को अपनी ओर समेटते हुएसे पैर फटकना चाहिए। खूब सिखा दीजिए और अगर ६ महीनेका कोर्स हो तो उसको खूब पढा दिया। पढ गये बच्चे। अब कहें कि ६ माह बाद तुम्हारी परीक्षा होगी। तालाबके पास चलो—वन—टू—थ्री कहकर पानीमें पटक दें तो वे बच्चे तालाबमे डूब जायेंगे।

अन्त सिद्धिकी अन्त प्रयोगसाध्यता—केवल अक्षरी विद्यासे काम नही चलता है जिस कार्यकी सिद्धि करना है उसका प्रयोग करो। जैसे रोटी बनाना है, रोज रोज देखते हैं ऐसे आटा गूना, लोई गोलकी, बेलने पर बेला, ऐसे रोटी बनायी, ऐसा बीसो वर्षोसे देखते-चले आ रहे हैं, और किसी दिन आपसे कह दिया जाय कि बनावो-रोटी, अगर आपने कभी रोटी न बनाई होगी तो आप बना नही सकते हैं। वह तो प्रयोगसाध्य बात है, गप्पोसे काम नही चलता। ऐसे ही आत्माके अनुभवकी बात प्रयोगसाध्य है, वचनोसे नही जानी जाती है उपदेशोसे ही नहीं प्राप्त होती है उसे तो एकातमे बैठकर गुप्त हो, किसीमे जताना नही है, अपने आपमें ही अन्तर्भावना करके ज्ञानमात्र निजस्वरूपकी भावना भाता रहे तो इसे वह अतस्तत्त्व परिचयमें आ जायगा। यदि अन्तरमें यत्न न करें, भीतरमें वैसा न घटायें सुन लिया कि सर्वसे न्यारा यह मैं चेतन हूँ, पर जब तक उस चेतनको ऐसा निरखनेका उद्यम न करें, हूँ तो मैं ज्ञानमात्र और ये सर्व जड हैं आदि जो कुछ सुन रक्खा है उस रूप अपने आपमें अपनेको न घटाया, तो आत्मानुभवकी चीज नही प्राप्त हो सकती है।

आत्मोपयोग प्रयोग विना आत्मोपलब्धिका अभाव दूसरेको देखते रहे कि यह ऐसे ही अग्रेजी लिखता है, इस तरहकी हिन्दी लिखता है बीसो वर्षो तक ऐसे ही देखते रहे तो उस तरह वह अग्रेजीका पाठ लिखना प्रयोग किये विना आ तो नही जायगा । यह लिखना तो प्रयोगसाध्य वात है। उसे स्वय प्रयोगमे लाये, सीखे तो आ सकती है, ऐसे ही यह जीव विषय सुखोसे निवृत्त होकर अपने आपमे निर्दोष रहने की विधि वनाये तो इसे अपने ज्ञानानन्दका निधान यह आत्मप्रभु दीख सकता है परन्तु प्रयोग न करें, ऐसा चित्तमे न धारें तो उसे दर्शन नही होते । इसी बातको इस प्रसङ्गमे पूज्यपाद स्वामी कह रहे है कि सुन भी लिया, वोल भी लिया किन्तु उस प्रकार उस विविक्त ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अपने आपकी भावना न बनाए वैसा ही अपने आपमे एकाग्रचित्त होकर न निरखे तो उस आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नही हो सकती है । जीव और पुद्गलके स्वरूपको सुनकर तोते की तरह रट लेनेसे या दूसरे को सुना देनेसे मोक्षकी प्राप्ति नही होती है । तोते लोग खूब तो पढते है चाहे जो कुछ सिखा दो, चाहे णमोकार मत्र सिखा दो उसे भी तोते पढ लेंगे, पर यह सीख लेने से तोतेके हृदयमे तो नही उतरता है ।

मात्र तोतारटन्तसे भावकी असिद्धिपर एक दृष्टान्त किसी जगह हलवाईके घरमे पिंजडेमें एक तोता रहता था । उसे हलवाईने सिखा रक्खा था—"इसमे क्या शक" । एक वार कोई विद्वान् ब्राह्मण आया, तोतेका रूप रङ्ग अच्छा था, उसने हलवाई से पूछा कि यह तोता वेचोगे ? वोला हाँ वेचेंगे । कितनेमे दोगे ? १०० रु०मे ! अरे, १०० रु०की इसमे कौनसी वात है ? आठ आठ आनेके तो बाजार मे विकते हैं ! हलवाईने कहा कि इस तोतेसे ही पूछ लो कि तुम्हारी १००) कीमत है क्या ? तो वह ब्राह्मण पूछता है—ऐ तोते ! क्या तुम्हारी १००) कीमत है ? तो तोता बोला "इसमे क्या शक" । उसने तो ठीक वही वोल दिया जो सीखा था। ब्राह्मणने समझा कि यह तो वडा समझदार तोता मालूम होता है, उसने उसे खरीद लिया । दो चार दिन वाद ब्राह्मण रामायण लेकर उसे सुनाने बैठ गया, और कहा वोलो तोते राम राम ! तो तोतेने क्या कहा ? इसमे क्या शक । ब्राह्मणने सोचा कि यह तोता इससे भी वडी कोई वात जानता है, तो वह रामचरित सुनाने लगा । तोता वोला इसमे क्या शक । फिर वह ब्राह्मण आत्माका स्वरूप कहने लगा । सो तोता वोला इसमे क्या शक । फिर ब्राह्मण आत्मब्रह्मका परमार्थस्वरूप बताने लगा तो तोता वोला इसमे क्या शक । अव तो ब्राह्मण को भी शक हो गया कि क्या यह कुछ जानता नही है । सो पूछता है—तो क्या तोते मेरे १०० रु० पानीमे चले गये ? तो तोता वोला इसमे क्या शक । तो उस तोतेको केवल एक ही वात याद थी, हृदयमे कुछ उसके उतरा नही ।

सदामुक्तकी आराधनासे मुक्ति—इसी तरह जब तक अन्तरमे यह अन्तस्तत्त्व नही उतरता है तो सुनकर भी ऐसा लगता है कि यह सुननेकी और कहने की वात है । इसकी सुननेसे और कहनेसे लोक प्रतिष्ठा वढती है इतनी ही सीमा

रहती है। भैया ! कितना ही सुनो, कितना ही बोलो। जब तक अन्तरमे इस भिन्न आत्मतत्त्वकी भावना न भायें तब तक परमार्थभूत शान्ति प्राप्त नही हो सकती है। अत तत्त्वको सुनने और चर्चित करनेमे आगे यथार्थ भावनारूप प्रयत्न करना चाहिये। सदामुक्त सहजसिद्ध ज्ञायकस्वरूपकी उपासनासे ज्ञायकस्वरूपके विलासका विस्तार होता है उसीमें सर्वथा मुक्ति प्राप्त होती है। यह अन्तस्तत्त्व सदा परस्वरुपसे मुक्त है इस कारण यह सदामुक्त है। यह चित्स्वभाव सदा शिवस्वरूप है, कल्याणमय है इस कारण यह सदाशिव है। यह चित्तत्व परमचिद्विलासस्वरूप कार्यसमयसार का परमार्थ कारण है इस कारण यह कारण समयसार है। इस चैतन्य महाप्रभु की अविचल उपयोगरूप की गई अभेद उपासना मुक्तिका समर्थ कारण है।

●

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥ ८२ ॥

अभीक्ष्ण ज्ञानभावनाका निर्देश—मोक्षार्थी भव्य पुरुषका कर्तव्य है कि वह देहसे आत्माको भिन्न अनुभव करके आत्मामे ही आत्मरूपसे भावना करे। जिस प्रकारसे फिर स्वप्नमे भी शरीरमें आत्माको न लगाये। एकबार यथार्थ परिचय करने से शरीरका और आत्माका भिन्न-भिन्न परिज्ञान होगया। अब भविष्यमें यह बात भूल कर कही फिर देहमे आत्मतत्त्वको न मानने लगे, इसके लिए और मोक्षमार्ग अबाध चलता रहे इसके लिए आत्मामे आत्माको आत्मारूपसे निरखते रहनेकी वृत्ति बनाये रहना चाहिए।

स्वप्नके दुर्भावमे भी दोषका अस्तित्व—यदि कोई स्वप्नमे भी यह ख्याल कर ले कि मैं यह हूँ अपने शरीरको ध्यानमे लेकर उसके प्रति यह मैं हूँ ऐसी स्वप्नमे भी कल्पना उठ जाय तो इसे भी दोष कहा गया है, क्योकि स्वप्नमें भी जो मिथ्यात्व रूप कल्पना हुई है, उसका कारण यह है कि पहले जगी हुई हालतमे भी संस्कार रहे आये हैं तब तो स्वप्नमे मिथ्याबुद्धि हुई। स्वप्न खोटा आ जाय, खोटा आचरण करनेका स्वप्न आ जाय उसका भी प्रायश्चित लेना पडता है। वहा यह नहीं सोचा जाता है कि वह तो स्वप्नकी बात थी। उसमे बुरा काम कहा किया। मैं तो सो रहा हूँ, स्वप्नमे ऐसा दृश्य देखनेमें आ गया। कहा खोटा काम किया, यह नही देखा जाता है। स्वप्नमे भी मन चला खोटे कामके लिए तो आखिर वह इस प्रकारके संस्कारोकी सूचना ही तो देता है। स्वप्नमे भी दुराचारके भाव आयें तो वह भी दोष है और उसका प्रायश्चित लिया जाता है।

स्वप्नसे संस्कारकी सूचना—यहा पूज्यपाद आचार्य कह रहे हैं कि शरीरसे आत्माको जुदा कर दिया है, भिन्न अनुभव कर लिया है, फिर भी देहसे भिन्न ज्ञानमात्र निज अन्तस्तत्त्वका ध्यान बनाये रहना चाहिए ताकि भविष्यमे कभी स्वप्नमेभी

शरीरमे आत्माकी बुद्धि न हो, इस शरीरको ही आत्मा न जानता रहे। इसी बातकी दृढता प्रकट होनेके लिए कहा करते हैं कि यह बात तो स्वप्नमे भी नही हो सकती है। कोई कहे कि तुम हमारा विरोध करना चाहते थे क्या ? तुम हमारा कुछ काट करना चाहते थे क्या ? तो वह उत्तर देता है कि तुम्हारे विरोधकी बात तो मुझसे स्वप्नमे भी नही हो हो सकती ! उससे हृदयकी सूचना हुई। जिसको स्वप्न कुछ भले कामके आते हैं, तीर्थ यात्रा करने जा रहे हैं, भगवानके दर्शन कर रहे हैं, पूजा कर रहे है, किसीको आहार दे रहे हैं ऐसे किसी प्रकार के धर्म सम्बन्धी स्वप्न आयें तो समझो कि उसकी भावना पवित्र है, तब स्वप्नमे ऐसी बात जगी है।

स्वप्न भावनाका अनुवर्तन—कोई कहे कि रात्रिको सो रहे हैं, स्वप्न आ रहा है और किसी साधुको आहार दे रहे हैं तो यह तो दोषकी बात होगी। अरे, उस स्वप्न वालेको रातका कहाँ पता है ? जिसको स्वप्न आ रहा हो उसे क्या यह भान है कि यह रात है ? उसको तो खूब तेज धूप दीख रही है। बडा दिन चढा है, गरमी है, यह सब उसकी दृष्टिमे है। यदि यह सोचकर आहार स्वप्नमे दें कि हम रात्रिके समय आहार दें तो वह अशुभ भाव है। उसे कहा इसका पता है। तो जब शुभ स्वप्न आता है धार्मिकतासे भरा हुआ तो जानना चाहिए कि मेरा हृदय धार्मिकतासे भरा हुआ है, इसीलिए यह स्वप्न आया। कभी बुरा भला स्वप्न आया, अन्य प्रकारके खोटे आचरण दगा, छल, मायाचार, किसीको सताना, ऐसे स्वप्न आया करे तो उसका अर्थ यह है कि इसका हृदय अपवित्र है।

प्रकृतिका विशिष्ट अनुमान—जैसे किसी मनुष्यके दिलका, दिमागका परिचय लेना हो तो वह जहाँ अपना बहुतसा समय व्यतीत करता हो, कोई ऐसी उसके आरामकी जगह हो जहा वह बहुत काल बैठता हो उस स्थानपर जाय और वहा क्या चीज रक्खी है उन चीजोको देखकर प्रकृतिका अन्दाज कर सकते हैं कि उसका हृदय कैसा है। वहा अच्छा साहित्य रक्खा हो, धर्मकी कितावें, शास्त्र आदि रक्खे हो तो ऐसा निर्णय करना चाहिए कि यह व्यक्ति धर्मसयुक्त रहता है। यदि गदे उपन्यास रक्खे हो, आधुनिक उपन्यास या पुरातन उपन्यास आदि रखे हो तो मूलमे समझो कि यह व्यक्ति धार्मिकतासे कुछ गिरी हुई आदतका है। जैसे किसीके रहने, उठने–बैठनेके स्थानपर रक्खी हुई चीजोसे प्रकृतिका अदाज हो जाता है कि जैसा वह देखे उसके अनुकूल इसका भाव है यह सिद्ध हो जाता है। जो पुरुष इस ज्ञायकस्वरूप निज आत्मतत्त्वकी बहुत–बहुत काल भावना बनाये रहते हैं उनको उसके विरुद्ध मिथ्या परिणामस्वरूप स्वप्न कभी नही आते हैं।

सम्यक्त्वके रक्षणकी सावधानी—जीव एकवार सम्यक्त्व पैदा करके फिर सम्यक्त्वको नष्ट कर देता है तो अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल तक वह ससारमे भ्रमण कर सकता है। इस कारण सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर स्वच्छन्द नही होना चाहिए। इतनी गल्तीसे, इतनी स्वच्छन्दतासे यदि पाये हुए

अमूल्य रत्नका सम्यक्त्वका विघात हो जाय तो फिर रङ्को सरीखी फिर स्थिति आ जायगी। इसी कारण जो आत्मतत्व दीखा है, जिसका परिज्ञान हुआ है अब उन आत्मतत्वके उपयोगमें हमें निरन्तर रहना चाहिए। बारबार भावना करना इस जीव की आदतमें शुमार है। कोई खोटा परिणाम हो, खोटी आदत हो तो खोटी ही भावना रात दिन बसाये रहता है और उसमें ही कल्याण समझता है। उत्तम परिणमन हो तो उसके योग्य उत्तम भावना बनाये रहता है।

दिखावटी भावनासे आत्महितकी असिद्धि—भैया ! दिखावटी भावना में काम सफल नहीं होता है। वह एक विडम्बनाका रूप रखता है। न उससे स्वयको लाभ है और न दूसरों को लाभ है। बात जितनी हो, वह सीधी सच्ची हो। हम भीतरमें बुरे हैं तो बाहरमें भले जंचनेका प्रयत्न न करें। ऐसा कपट करना धोखा रहेगा। अपनी गल्ती छिपाकर लोगोंकी दृष्टिमें धर्मात्मा बनकर रहनेका परिणाम भला नहीं निकलता है। अपनी कमी, अपनी त्रुटि अपनेको दीखनेमें आती रहे तो कभी उसका सुधार कर सकते हैं पर बनावटी ऊँची बात मुद्रा दिखाना उत्तम नहीं है।

बनावटी बातसे प्रयोजनके निभावके अभावका एक दृष्टान्त—एक कहानी है कि एक पुरुष ससुराल जा रहा था । उसको रातमें न दीखता था। रातमें न दिखनेको कहते हैं रतौंध। सांयके समय ससुरालके गांवके निकट पहुँचा तो रतौंध आ गयी। उसे थोडा थोडा दीखे । सोचा अब क्या करें। यहाँ पडे रहना तो ठीक नहीं है रातमें तकलीफ होगी पर दीखेगा नहीं तो जायेंगे कहाँ, सो वहीं वह बछडा चर रहा था जो बछडा दहेजमें दिया था। सो झट समझमें आया कि पूँछ पकडले तो यह बछडा घर पहुँचा देगा। फिर सोचा कि लोग बेवकूफ कहेंगे कि इस तरह ये लाला जी आये हैं । तब एक युक्ति समझमें आ गयी। एक रटन लगाली मुझे तो बछडेका अफसोस है। वह बछडा कुछ दुबला हो गया होगा। खैर किसी तरहसे बछडेकी पूँछ पकडकर ससुरालके घर पहुच गया। लोग पूछते हैं लालाजी कब आये ? उत्तरमें बस वही एक बात वह कहता है मुझे तो बछडेका अफसोस। इस बातको वह छिपाना चाहता था कि रातको मुझे दीखता नहीं है। केवल इतनी बात छिपानेके लिए वह यही बात कहे मुझे बछडेका अफसोस। अरे तो हाथ पैर धोवो कुल्ला करो। मुझे तो बछडेका अफसोस। कोई कुछ कहे उसकी एक रटन। वे रातके खाने वाले होंगे, भोजन तैयार हो गया, सो कहा चलो लालाजी भोजन करने चलो। अब लाला जी उठें कैसे जब दीखता हो तब तो उठें। तो उसको पकडकर जबरदस्ती खाने ले गए और कहा अरे बछडेको खूब खिलायेंगे, फिर मोटा हो जायगा मुझे तो बछडेका अफसोस। वह तो चाहता ही था कि कोई हाथ पकडकर ले जाये तो भोजन करलूँ।

बनावटी बातसे अन्तमें भारी विडम्बना—अब रतौंधिया लालाजी पहुँच गये रसोई घरमें। सास ने चीजें परोस दी और सोचा कि दालमें खूब गरम घी डालना चाहिए और इतना गरम घी डाला जाय कि दालमें छुन-छुनकी आवाज हो,

तभी दाल वढिया लगती है। सो वहुत तेज गरम घी दालमे डाला—छुन छुनकी आवाज हुयी सो लालाजी ने समझा कि कोई बिलैया आकर थालीमे खाने लगी है सो एक थप्पड मारा। घीकी कटोरी दूर जाकर गिरी। ऐव छिपानेके लिए कहता जाय कि मुझे तो वछडेका अफसोस है। उसे थोडी देर वाद वडी सरम लगी कि खूव ऐव छिपाया पर खुलने ही वाला है। सो सरमके मारे घरसे निकल गया और वाहर जाकर एक गड्ढे मे गिर गया। दीखता तो था नही। अब वडे सुवह सास पहुची कपडे धोने उसी नालेके घाट पर वह कपडे धोने लगी वहाँ सास ने देखा कि यहा तो लाला जी पडे हुए है, वोली कि तुम यहा कैसे पडे हो—रातको यहाँ वहाँ ढूढते फिरे सब लोग कि लालाजी कहा गये। उसे सास ने उठाया तो वह वोला मुझे तो वछडेका अफसोस। अरे वनावटी वात कहा तक छिपती। आखिरमे उसे कहना ही पड़ा कि मुझे रातको दीखता नही है इसलिए दोप वचानेके लिए कहता रहा कि मुझे वछडेका अफसोस।

आत्मदर्शनके हितमे भलाई—भैया, परवाह किस वातकी करें। हम वुरे हैं तो वाहर मे वुरा दीखने दे, दोप ढाकनेकी कोशिश न करें, जैसी वात मनमे हो वैसी ही वचन और कार्यकी प्रवृत्ति होनी चाहिए। उससे अपनी भावना सरल होती है और कभी अवसर पाकर धर्मकी ओर झुकाव भी हो जाता है। अच्छे विचार हैं अच्छे परिणाम हैं इसकी पहिचान यह है कि कभी खोटा स्वपन न आये। स्वपनमे भी शरीरमे यह मैं आत्मा हूँ ऐसा ख्याल न जाय इतनी तैयारीके लिए अन्तरात्माको चाहिए कि वह शरीरसे आत्माको अत्यन्त जुदा अनुभव करके फिर आत्मामे एसा ही दर्शन किया करे ऐसा ही उपयोग वनाया करे कि यह आत्मतत्त्व मेरे उपयोगमे दृढ हो जाय तव चिरकालसे भरा हुआ अज्ञान सस्कार आत्मासे निकल जाता है मोह दूर हो जाता है फिर इस जीवको कभी स्वपनमें भी शरीरमे आत्माकी वुद्धि नही होती है, सस्कारको दूर करनेके लिए भेद विज्ञानकी निरन्तर भावना करनी चाहिये। अच्छिन्न धाराप्रवाह न टूटे ज्ञानधारा ऐसी रीतिसे सर्व पर पदार्थोसे विविक्त परभावोसे प्रथक् ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निज आत्मतत्त्वकी भावनाके प्रसादसे ज्ञानमय उपयोगसे यह आनन्दका भाजन होगा।

निजमे परका सदा अभाव—भैया ! यह कैसा ही उपयोग करे अन्य कोई इसका कुछ वन नही जाता है, यह तो उपयोग मात्र ही रहता है। लाखो करोडोकी जायदादमे अपनी वुद्धि लगाये फिरे तो ऐसा भी उपयोग देनेसे एक पैसा भी कभी अपना नही हो सकता है तो यह अन्य क्षेत्रस्थ लोक वैभव तो अपना कैसे हो। अपना तो कुछ होता नही, केवल एक भावना करके अपनेको कलुपित कर लेना, पापिष्ठ वना लेना और उस पाप प्राप्तिके फलमे आकुलताको भोगना यह विडम्वना मुफ्त सदी हो जाती है। यह जीव परपदार्थोको अपने माने तो वे अपने नही होते, न अपने माने तो अपने नही होते फिर क्यो यह मोही प्राणी अपनी वरवादीकेलिये पर पदार्थोको अपना मानना क्या जा रहा है। जिसे मिथ्यावुद्धि उत्पन्न हुई है वे अपनी त्रुटिको त्रुटि नही समझ सकते है। वे तो उन गल्तीको अपनी चतुराई समझते हैं।

अभीक्ष्ण ज्ञानभावनाकी आवश्यकता– अहो, इस मिथ्यात्व परिणामको किए हुए इस जीवको कितना समय गुजर गया ? अनन्तकाल ! जिस कालका कोई अत ही नही है। इतने कालका भरा हुआ अज्ञान सस्कार मूलसे मिट जाय ऐसा निर्दोष होनेके लिए हमको साधारण यत्न नही करना होगा, निरन्तर इस सदामुक्त सहजशुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना वनानी पडेगी तव आत्मकल्याण हो सकेगा। इस शिवमय आनन्द स्थितिके लिए हमे चाहिए कि देहसे भिन्न इस आत्मतत्त्वकी निरन्तर भावना करें अनन्तकालका वना हुआ अज्ञान सस्कार निरन्तर ज्ञानभावनाका पुरुषार्थ किए विना समाप्त नही हो सकता है। अपनेको यह प्रतीति तो दृढ करना है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान स्वभावके अतिरिक्त अन्यरूप मैं नही हूँ, अथवा अन्यका भी ख्याल न करना निषेधमुख से भी, किन्तु केवल जैसा स्वत सिद्ध यह मैं हूँ वैसी निरन्तर भावना करना है इस ज्ञानभावनाके प्रसादसे सहज परम आनन्द प्रकट होता है।

●

अपुण्यमव्रतै पुण्य व्रतैर्मोक्षस्तदव्यय ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

पुण्यपापमे अकुलत्वकी स्थिति व पुण्यपापके अभावमे मुक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ प्रकारके पापोंके परिणामसे पापका वध होता है, और अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन ५ प्रकारके व्रतके भावोसे पुण्य का वध होता है, किन्तु मोक्ष नाम है पुण्य और पाप दोनोके विनष्ट होनेका। इस कारण मोक्षका अभिलाषी भव्य आत्मा पापकी तरह, अव्रतकी तरह व्रतोको भी छोड देते हैं। एक पदमे कहा है—"पाप पुण्य मिल दोय पायन वेडी डारी, तन काराग्रह माँहि मोह दियो दु ख भारी"। पाप और पुण्य ये दो वेडियाँ हैं। जैसे इस जीव को पापका उदय परतत्र कर देता है इसी प्रकार पुण्यका उदय भी जीवको परतत्र कर सकता है। पापके उदयमे प्रतिकूल घटनाए आती हैं जिनसे वह दु खी रहता है, किन्तु पुण्यके उदयमे मनके अनुकूल घटनाए आती है जिनसे यह जीव राग किया करता है। वहाँ यह रागी अन्तरङ्गमे वडी पीडाका अनुभव करता है।

रागका विशेष वन्धन—भैया ! वन्धन तो रागका विकट है। वन्धन असल मे रागका ही है। द्वेषमे तो अलगाव रहता है सुहाता नही है, आकर्षण नही रहता है, विमुख होना चाहता है किन्तु रागमे आकर्षण होता है उसकी ओर लगना चाहता है। तो वधन तो विकट रागका ही है। ये पाप और पुण्य दोनो वेडिया हैं और यह शरीर कारागार है। जेलखानेका सीकचा है। जैसे सीकचेमे वद पडा हुआ कैदी परतत्र रहता है इसी तरह शरीरके सींकचेमे वद पडा हुआ यह जीव परतत्र रहता है। कहा तो इस जीवकी स्वतत्र सत्ता सच्चिदानदस्वरूप है और कहा यह शरीरका विकट वन्धन ! यह सव पाप और पुण्यके कारण शरीरका काराग्रह लगा हुआ है। जैसे कैदी

को चाहे स्वर्णकी बेडी डाल दी जाय, चाहे लोहेकी बेडी डाल दी जाय, परतन्त्रताके कारण तो दोनो ही प्रकारकी वेडियाँ है। इसी प्रकार इस जीवके समीप पुण्यके ठाठ रहे अथवा पापके उदयकी स्थितियाँ रहे, बन्धन और आकुलता दोनोमे समान है। पापके उदय वाले निर्धनतासे, दरिद्रतासे दुखी रहते है और पुण्यके उदयमे ये अज्ञानी जीव तृष्णासे और सम्पदासे अपनेको वडप्पन माननेकी वासनासे मलिन रहते है, सक्लिष्ट रहते है। ये दोनो ही इस जीवको ससारके कारण है।

मोक्षार्थीकी वृत्ति मोक्ष अव्रत और व्रत दोनोके अभावसे होता है इस ही कारण मोक्षका अभिलाषी पुरुष जैसे पापका परित्याग करता है तो पापका परित्याग करके व्रतोको ग्रहण करता तो है पर उसके लक्ष्यमे पाप पुण्य रहित अव्रत व्रत रहित एक शान्त निष्कषाय स्थिति रहती है। इस कारण ज्ञानी पुरुषको, मोक्षार्थी भव्य जीव को अव्रतोके त्यागकी तरह व्रतोका भी परित्याग करना चाहिए।

कर्ममात्रके सम्पर्ककी हेयता — तीर्थंकर प्रकृतिका वध सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है, मिथ्यादृष्टि तो कर नही सकता। और, लोग जानते है कि तीर्थंकर प्रकृतिके उदयमे तीर्थंकर वनता है भगवान सर्वज्ञ वनना है, सभी तीनो लोकके विशिष्ट जीव इन्द्र आकर चरणोमे नमस्कार करते है, वडा अभ्युदय होता है किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिके स्थिति वन्ध वाली पद्धति एक रहस्य प्रकट कर रही है कि तीर्थंकर प्रकृतिका अधिक स्थितिमे वन्ध सक्लेश परिणाममे होता है। और तीर्थंकर प्रकृतिकी थोडी स्थितिका वध विशुद्ध परिणाममे होता है। सम्यग्दृष्टिके योग्य जितना अधिकसे अधिक सक्लेश परिणाम हो सकता है उस परिणाममे कदाचित् तीर्थंकर प्रकृतिका वध किया जा रहा हो तो उत्कृष्ट स्थितिका वध पडेगा और विशुद्ध परिणाममे कम स्थितिकी तीर्थंकर प्रकृति वधेगी। सुननेमे थोडा अटपटा-सा लग रहा होगा कि तीर्थंकर जैसी पुण्य प्रकृतिकी उत्कृष्ट स्थिति सक्लेश परिणाम वाला ही वाध सकता है यह क्या वात है ? इसका यह मर्म है कि तीर्थंकर प्रकृति भी पुण्य प्रकृति है, ठीक है, किन्तु कर्ममात्रका वहुत दिनो तक जीवके साथ वना रहना भली वात है क्या ? तीर्थंकर पुण्य प्रकृति है। किन्तु उसकी उत्कृष्ट स्थिति वाधनेका अर्थ यह है कि यह जीव कर्मोसे लिप्त वहुत काल तक रहेगा क्योकि स्थिति अधिक वधी है ना, तो अधिक काल तक ससारमे वना रहे ऐसा उपाय सक्लेश परिणाममे होगा या विशुद्ध परिणाममे होगा ?

पुण्य और पाप प्रकृतियोकी विघ्नरूपता भैया ! पुण्य प्रकृति भी इस जीवके हितमे विघ्नस्वरूप है, पाप प्रकृति भी विघ्नस्वरूप है। जैसे कारागारमे लोहे की वेडी और सोनेकी वेडी दोनो एक समान है, दोनो ही प्रकारकी वेडियोका अभाव हो तो आजादी समझी जाती है। इसी प्रकार पुण्य पाप दोनो कर्मोंका अभाव हो, अव्रत और व्रत दोनो शुभ अशुभ भावोका अभाव हो तो मुक्ति हो सकती है। वह मोक्ष मार्गका परिणाम व्रत और तपस्यासे भी उत्कृष्ट परिणाम है। शारीरिक

तपस्या और समयका पालन इसमे भी उत्कृष्ट भाव है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञा सम्यकचारित्रके अभेदरूपका अनुभव। मोक्षार्थी पुरुष इस ही शुद्धतत्त्वको लक्ष्यमे रहा है। करना उसे यद्यपि यह पड रहा है पहिले पापोको कर पुण्यकी बातोका ग्रह करे। लेकिन वह पुण्यका ग्रहण करके भी पुण्यके छोडनेके यत्नमे रहता है। यो ः जीव पाप पुण्य दोनोसे विविक्त और पुण्यके कारणभूत शुभ अशुभ भावोसे विवि अतस्तत्त्वकी आराधना करता है और इसके फलमे सुख दु ख दोनोसे रहित जो सह आनन्द है उस आनन्दको भोगा करता है।

आत्मशिक्षण - भैया! इस श्लोकमे यह शिक्षा भरी हुई है कि पुण्यके फ की वाञ्छा न करो और पुण्य फलकी इच्छासे किसी प्रकारका धम कार्य न करो किन्तु, एक शुद्ध सहज आनन्दकी पूर्तिके लिए अथवा ज्ञाता-दृष्टा इसका स्वभाव है, अ सत्य-सत्य बातकी जानकारीके लिए जाननहार रहो। धन सम्पदा वैभव इनकी तृष्ण मे शाँति नही है। और अब तो आजके जमानेमे धनिक वर्ग कहाँ सुखी है। कित चिंताएँ सिरपर लदी हुई है वह सब धनके सचयके हठका परिणाम है। मनुष्य जीव मिला है तो धन जोडनेके लिए नही किन्तु सत्य धर्मका दर्शन करके ऐसा फल प्रा कर लें कि जो अन्यत्र कही न मिल सके इसके लिए मनुष्य जीवन है। और आजक समय देखा जाय तो यह समय धर्म साधनके लिए भी बहुत प्रेरणा करता है लेकि व्यामोह ऐसा पडा है कि चाहे कितना ही कष्ट हो कितने ही अत्याचार करने पडे ब्लेकमार्केट करना पडे अथवा अन्य प्रकारके कितने ही अन्याय करने पडे, पर किसं प्रकारसे धन सम्पदा अधिक बढ जाय यह तृष्णा रहती है।

रागसे सर्वदा अलाभ अरे भैया! धन सम्पदा बढाकर क्या किय जायगा? अब तो सरकारको दिया जायगा, यह समय आने वाला है। जब एव नियम बन जायगा शहरी सम्पदाका कि कोई मनुष्य इतनेसे अधिक सम्पदा नही रख सकता है तो उससे अधिकका और क्या किया जायगा? श्रम किया, विकल्प किया सारी बातोंकी, उसका कष्ट ही आपके पास होगा। अथवा रहा भी आये धन पासमे तो भी उससे क्या हित है? चोर सतायेगे, कुटुम्बीजन, रिस्तेदार, पडोसके लोग सभी भागी बनेंगे। चैन कहाँ है। अथवा जोडते भी जायें तो राग भाव ही तो किया जायगा। राग एक अधकार है? जहाँ राग भाव बढ रहा है वहाँ यह आत्मप्रभु नही सूझता है। जहाँ यह आत्मप्रभु नही दीख सकता है वहाँ तो सारी विपत्ति है। यह जगत एक अधेर नगरी है। तनिकसी देरमे कुछसे कुछ क्या हो जाय यह कोई निश्चय नही कर सकता है। जैसे जमानेमे कही निरपराध आदमी बडी तकलीफ पाये सरकार के चगुलेमे फसकर और कही अपराधी पुरुष मौज उडाये कुछ भी नही कहा जा सकता अब तो यह दुनिया स्पष्ट दीखती है कि अधेरी नगरी है।

अधेर नगरीका मौज—एक कथानक है कि एक गुरु और शिष्य एक अधेर नगरीमें पहुचे। शिष्यको भेजा कुछ पैसा देकर कि जावो कुछ अच्छी सामग्री ले आवो

शिष्य गया। पहिले तो कोयलेकी जरूरत थी, पूछा कोयला क्या भाव दिया ? कोयला वाला बोला टके सेर। आटे वालेके य ा पहुचा, पूछा क्या भाव है आटा ? वह भी बोला टके सेर। हलवाईके यहा पहुचा पूछा, ये रसगुल्ले क्या भाव ? वह भी बोला टके सेर। खूब ले आया रसगुल्ले और भर पेट खाया। फिर शिष्य गुरुसे कहता है कि महाराज यहा ६ महीने तक ठहर जावो तो खूब तगडे हो जायेगे, यहा हर एक चीज टके सेर है। गुरु ने कहा यहाँ मत ठहरो, यह स्थान ठहरने लायक नही है। शिष्य बोला महाराज एक बार तो कहना मान ही लो ठहर गये, चार पाच माहमे शिष्य तो खूब मोटा हो गया।

अंधेरनगरीका फैसला- अब इसके बाद एक घटना क्या घटती है कि एक बाबू साहब सडकके एक दूसरे किनारेसे जा रहे थे तो १८ फुट दूर सडकके दूसरे किनारेके एक बनियेके मकानसे दो ईंटे खिसक गयी। तो बाबू साहब ने उस घरके मालिकपर न्यायालयमे राज्यके पास मुकदमा दायर कर दिया कि उसने ऐसी भीट क्यो बनवाई कि ईंट गिर गयी मैं यदि इस घरके किनारेसे होकर जाता तो ईंट मेरे लगती कि न लगती ? राजा ने सोचा कि यह ठीक कह रहा है राजाने बनियेको बुलाया पूछा अबे बनिये तूने ऐसी कमजोर दीवाल क्यो बनवायी कि उससे ईंट इन बाबूजीके लग जाती तो ? वह बनिया बोला महाराज इसमे मेरा क्या दोष है। इसमे तो मिट्टी गीला करने वालेका कसूर है। उसने पानी ज्यादा डाल दिया। मिट्टी गीली हो गयी, इसीसे ईंट खिसक गयी। गिलाव करनेवालेको बुलाकर पूछा तूने मिट्टीमे पानी क्यो ज्यादा डाल दिया कि मिट्टी गीली हो गयी और दिवालसे ईंट खिसक गई वह बोला महाराज मेरा क्या कसूर। इसमे तो मसक बनाने वालेका कसूर है, उसने ऐसी बडी मसक क्यो बनायी कि पानी ज्यादा गिर गया। मसक बनाने वालेको बुला कर पूछा तो उसने कहा महाराज मेरा क्या कसूर, इसमे तो पशु बेचने वालेका सारा कसूर है, वह इतना बडा पशु बेचने क्यो आला ? उसे बुलाया क्यो बे तू बडा पशु बेचने क्यो लाया यहा उसके पास कोई उत्तर नही था। तो फैसला ने सला दिया कि इस पशु बेचने वालेको फासी दी जाय। इस सबका जड यही है।

अंधेरनगरीकी विडम्बना—फासीके तख्ते पर उसे खडा कर दिया। तो वह दुबला पतला आदमी था व फासीका फदा बडा था। उसके गलेमे वह फदा फिट न बैठे। तो फासी देने वाले चाडाल लोग राजासे बोलते है महाराज इसका तो गला इतना पतला है कि फासीके फदेमे न ी आता है। तो राजा कहता है अबे तो किसी मोटे गलेवालेको पकड लावो। फासीका मुहूर्त तो निकला जा रहा है। चाडाल लोग दोडे मोटे गले वालेकी खोजमे। सो बडे मोटे गले वाले वही शिष्य महाराज मिले जिसने ५ महीने तक खूब टका सेरकी पकवान मिठाईकी चीजे खायी थी उसको पकडकर ले जाने लगे तो वह शिष्य पूछता है कि बात क्या है जो पकडे लिए जाते हो। वे चाडाल लोग बोले - अबे बात क्या है, फासी देना है, मुहूर्त निकला जा रहा

है तो शिष्यने कहा—अच्छा पहिले गुरु जीके पैर तो छू आवें। हाँ छू आवो। गुरुजी से कहा महाराज अब तो हम मरे सारी बात बतायी गुरुने बताया कि बचनेका एक उपाय है कि फासीपर चढनेके लिए हम तुम दोनों लडे कि पहिले हम चढेंगे। ठीक है। जब वह शिष्य फासीपर चढाया जाने लगा यो गुरु उससे झगडने लगा पहिले हम चढेंगे फासीपर। जब झगडासा हुआ देखा तो राजाने कहा साधु महाराज तुम क्यों लडते हो ? तो वह साधु कहता है हे राजन्! तुम चुप बैठो। तुम्हे कुछ पता भी है यह ऐसा मुहूर्त है कि जो इस समय फाँसीके तख्तेपर चढेगा वह सीधा बैकुण्ठ जायगा। तो राजा बोला कि अच्छा तुम दोनो न चढो पहिले हमे चढावो। फिर क्या हुआ हम नही जानते।

अधेर दुनियासे बचनेका यत्न—जैसे अधेर नगरीका कोई हिसाब किताब ही नही। अपराधी निरपराधी सब एक समान है ऐसे ही इस दुनियामे सब एक समान दुःखी हैं। पुण्य वाला हो तो। पाप वाला हो तो शांतिका उपाय तो सम्यग्ज्ञान है। सही सही शुद्ध जैसा वस्तुका अपना अपना स्वरूप है उस स्वरूपकी पहिचान हो तो शान्ति हो सकती है अन्यथा शान्ति है ही नही। सोचते रहो हमारे इतने घर है, इतने लडके हैं, इतनी बहुवे है, इतनी बेटिया है, सोचते रहो और भीतरमें आग जल रही है उसमे जल रहे हैं। सतोष और शान्ति शुद्ध ज्ञानके बिना कभी हो ही नही सकती मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रत परिणामोका त्याग करता है इसी प्रकार व्रत परिणामोका भी त्याग करता है हा इतनी कला अवश्य है कि पहिले पापको छोडेगा पीछे पुण्यको भी छोडेगा। नही तो यह बडी सरल बात लगती है कि पुण्यको पहिले छोडदें, पाप न छूटे न सही, पर यह विधि नही है। प्रथम तो पापोका परित्याग हो पश्चात् पुण्य का परित्याग हो।

ज्ञानी और अज्ञानीके समयका उपयोग—सुख दुःख दोनोसे रहित पुण्य पाप दोनो दोनोसे रहित केवल ज्ञानस्वरूपके अनुभव रूप शुद्ध आनन्दका अनुभव ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है अज्ञानी तो मोहकी नीदकी स्वपनोमे बसा हुआ अमूल्य जीवन गुजार रहा है। जैसे सिरका खुजैला और अन्धा किसी नगरमे प्रवेश करना चाहे जिस नगरमे मान लो एक ही दरवाजा हो और पूरा कोट घिरा हुआ हो। वह कोट छूकर चल रहा है यह सोचकर कि जहा दरवाजा मिलेगा वहासे नगरमे प्रवेश कर जायगा किन्तु जब दरवाजा आता है तो कोटको छोडकर अपना सिर खुजलाने लगता पैरका चलना जारी रखता है, दरवाजा निकल गया अब कोटपर हाथ धरकर फिर चला, ऐसे ही ससारमे भ्रमण करते करते आज यह मनुष्य भवका द्वार मिला है जिससे हम आत्म नगरीमे पहुँच सकते हैं, पर यह विषयोका खुजैला इस मनुष्य भवमे विषयोकी खाज खुजाने लगता है। यो इस जीवनको भी व्यर्थ गवा देता है। ज्ञानी पुरुष पापोका तो प्रथम ही परित्याग करता है किन्तु व्रत परिणामका भी त्याग करके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठित ।
त्यजेत्तान्यपि सप्राप्य परम पदमात्मन ॥ ८४ ॥

अव्रत व व्रतभावके परित्यागकी आवश्यकताका कारण व क्रम—पूर्व श्लोकमे यह कहा गया था कि अव्रत भावसे पाप होता है और व्रत भावसे पुण्य होता है, किन्तु मोक्ष अव्रत और व्रत दोनो प्रकारके परिणामोके अभावसे होता है। इस कारण मोक्षाभिलाषी पुरुपको अव्रत भाव और व्रत भाव दोनोका परित्याग करना चाहिए। इस विषयमे यहाँ यह स्पष्ट कर रहे है कि पाप और पुण्य दोनोको अटपट न छोडा जायगा किसी सिलसिलेसे छोडा जायगा। अव्रत भाव और व्रत भाव इन दोनो को कही क्रम भगसे न छोडा जायगा उसका क्रम है और वह क्रम यही है कि अव्रत का परित्याग करके प्रथम तो व्रत भावसे निष्ठावान, रहे, व्रत भावका भली प्रकारसे पालनहार बने, फिर आत्माके उत्कृष्ट स्थानको पाकर उन व्रत परिणामोका भी परित्याग कर देवें।

अव्रत और व्रत भावके परित्यागके क्रमका विवरण—सबसे पहिले तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापो रूप अशुभ प्रवृत्तियोको छोडना चाहिए, फिर अहिंसा आदिक व्रतोके करने रूप शुभ प्रवृत्तियोको भली प्रकार करके, दक्ष होकर अपना लक्ष्य शुभोपयोगकी ओर रखना चाहिए। जब शुद्धोपयोगकी प्रवलता हो जाय, विकल्पोका अभाव हो जाय, विषय कषायोका लेश न रहे ऐसे उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति हो जाय तव इन व्रतोको भी छोड देना चाहिए।

व्रतमे भलाई व्रत धारण करनेके लिए कोई वाट न जोहना चाहिए। जैसे कि यह सोचो कि मेरेको सम्यक्त्व हो जाय तव फिर मैं व्रत धारण करूगा। ५ पापोको छोडनेमे तो पद माफिक सदा ही भला है, जिसे सम्यग्दर्शन नही हुआ ऐसे पुरुष भी व्रतोको धारण करे तो क्या उसका व्रत धारण करना पाप वासनासे भी अधिक बुरा है। पापके परिणामोका त्याग करना और व्रतके परिणामोमे आना यह तो अव्रतकी अपेक्षा लाभकर है ही। हाँ रही मोक्षमार्गकी वात। मोक्षमार्गमे भी परिणामकी ओर आकर्षित होनेसे सहयोग ही मिलता है। मोक्षमार्ग तव तक प्रकट नही होता जव तक जिस स्वरूपसे मुक्त होना है और मुक्त होनेकी स्थिति जैसी कहलाती है उन दोनो तत्त्वोसे परिचित न हो जाये। व्रत धारण करना अच्छा है किन्तु यहा मोक्षमार्गकी वात कही जा रही है कि व्रत ही धारण करते रहना इस ज्ञानीका लक्ष्य नही है किन्तु अव्रत और व्रत दोनो परिणामोसे रहित सहज शान्त निजविलास मे ही रहनेका उसका लक्ष्य है।

असयमसे सयममे पहुँच – सयम मार्गणाके ८ भेद कहे गए हैं। उनमे सवसे पहिले असयम होता है। असयम भाव मिथ्यात्व अवस्थामे भी होता है। सम्यक्त्व छूटकर मिथ्यात्वकी ओर आना, ऐसी सासादन अवस्थामे भी है सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोको मिश्रण रूप तृतीय गुण स्थानमे भी है और सम्यक्त्व हो जानेपर भी जव

तक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है तब तक यह असयम है, इस असयम का परित्याग करके यह जीव सयमासयममे पहुचता है। जहा कुछ सयम है कुछ असयम है। त्रस जीवोका घात न करनेरूप तो सयम है और स्थावर जीवोका घात न छोड सकनेरूप असयम है। इसके ऊपर सामायिक और छेदोपस्थापना सयम होते हैं।

परिहारविशुद्धिकी विशिष्ट सयमरूपता— परिहारविशुद्धि तो एक विशेष बात है किसी मुनिके हो किसीके न हो यह जरूरी नही है कि परिहारविशुद्धि सयम ६ठें और ७वें गुणस्थानमे नियमसे हो। जिसके परिहारविशुद्धिनामक ऋद्धि सिद्ध हुई हो उसके परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। परिहारविशुद्धि चारित्र उपसमसम्यक्त्वमे नही होता परिहारविशुद्धि चारित्र स्त्रीवेद और नपु सकवेदके भावोमे नही होता। यह परिहारविशुद्धि भी एक महान् ऋद्धि है। इस ऋद्धिवालेके मन पर्ययज्ञान की ऋद्धि नही होती है क्योकि यह स्वय एक बडी ऋद्धि है। इसी प्रकार परिहार विशुद्धि ऋद्धिकी सिद्धिवालेके आहारक शरीरकी भी ऋद्धि नही होती। यह परिहार विशुद्धि किसी किसी मुनिके होता है।

सामायिक व छेदोपस्थापनाकी स्थिति सर्वसाधारण मार्गमे ऊचली अवस्थामे यह सामायिक और छेदोपस्थापना सयम होता है, इसमे दाणक्षणके बाद सामायिक और छेदोपस्थापना बदलती रहती है। सामायिक नाम है रागद्वेष न करके समता परिणाम बनाये रहनेका। जब साधु उस समता परिणामसे जरा भी चिगता है तो फिर अपना उद्योग अपना यत्न समता परिणाम बनानेका करना है। यही हुई छेदोपस्थापना। ये दोनो क्षण क्षणमे चलते रहते हैं अपनी अपनी पदवीकी सीमामे।

यथाख्यातसयममे संयमकी परिसमाप्ति—सामायिक छेदोपस्थापना सयम का भी अभाव होता है जब सूक्ष्म चारित्र प्रकट होता है। जहाँ केवल सज्वलन सूक्ष्म लोभ ही रह गया है और उस लोभके भी परिहार करनेके लिए चारित्र हो रहा है उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते है। यहा तक सकषाय जीव है, यहा तक व्रतका धारण कहा गया है, यद्यपि ६ठे गुण स्थानसे लेकर १०वें गुणस्थान तक बीचमे इन व्रतोकी तरगोका भी हीनाधिक भाव होता रहता है। जैसे कि ऊपरके गुणस्थानमे यह जीव चलता है तो व्रत सम्बधी विकल्प उसके कम होते हैं, लेकिन सर्वथा विकल्पो का मिटाना यथाख्यात चारित्रमे होता है यहा व्रत भावका परित्याग हो गया। यो यह जीव असयमका परिहार करके क्रमश समयासयम, सामायिक, छेदोपस्थापवा और सूक्ष्म सम्पराय चारित्रके पश्चात् यथाख्यात चारित्रमे पहुँचता है।

सयमवृत्तिसे उत्कृष्ट स्थिति—इसके पश्चात् जब ससार अवस्था नहीं रहती है सिद्धत्व प्रकट हो जाता है तो इन सातोंके सातोका अभाव हो जाता है, उस समय सयम असयम और सयमासयम इन तीनोंसे रहित स्थिति होती है। इस प्रकारके क्रम से यह जीव अव्रतका परित्याग करके व्रतोमे परिनिष्ठित होकर फिर व्रतोका भी परि-

त्याग करे ऐसी शिक्षा इस श्लोकमे कही गयी है। जब तक वीतराग न अवस्था प्रकट हो, सकल्प विकल्पका अभाव न हो तबतक व्रतोका अवलम्बन तो रखना चाहिए जिससे अशुभकी ओर प्रवृत्ति न हो सके पर व्रतोका ग्रहण करके भी इससे उत्कृष्ट स्थितिका लक्ष्य और यत्न बनाये रहना चाहिए। यह क्रम है अव्रतभाव व्रतभाव और अनुभय भावके आश्रयके होनेका।

व्रत धारणमें बहानेकी अकरणीयता—कोई जीव स्वच्छन्द होकर सम्यक्त्वकी चर्चामे आड लेकर कहा करे कि अभी सम्यक्त्व पैदा करना है, जब सम्यक्त्व हो जायगा तब ग्रहण करनेकी बातकी जायगी तो ऐसी चर्चा करते करते जीवन गुजर जाता है। उनसे पूछो कि अभी सम्यक्त्व हुआ या नही, सम्यक्त्व हुआ होता तो व्रत ग्रहण करनेकी उत्सुकता होती और यदि सम्यक्त्व नही तो मिथ्यात्वमे ही यह ससार लम्बा किया जा रहा है।

व्रत और अव्रत भावोमे वर्तमान अन्तर—जैसे दो पुरुष किसी गावके लिये चले और उन दोनो पुरुषोसे किसी और साथीका वायदा हो कि हम भी यहाँसे साथ चलेगे। किसी स्थानपर उन दोनोमेसे एक पुरुष तो पेडके नीचे बैठकर छायामे रहकर अपने साथीकी बाट जोह रहा है और दूसरा पुरुष सताप भरी गरमीमे, धूपमे बैठकर अपने साथीकी बाट जोह रहा हो सो बतावो कि उन दोनो पुरुषोमे कौनसा पुरुष विवेकी है ? बाट जोहनेका काम वे दोनो कर रहे है पर एक पुरुष छायामे बैठा हुआ बाट जोह रहा है और एक पुरुष सताप भरी धूपमे खडा होकर बाठ जोह रहा है, जैसे उन दोनोमे अन्तर है इसी प्रकार अव्रती और व्रतीके भावोमे अन्तर है। व्रती पुण्य छायामे रहकर असीम आनन्दके पथमे लगनेकी बाट जोह रहा है और अज्ञानी जीव मोहके सतापमे रहकर अपने कल्पित सुख साधनोकी बाट जोह रहा है। अच्छा तो व्रतभावमे रहने वाला है। हमे चाहिए कि अपनी शक्तिको न छिपाकर अव्रत भावो का परित्याग करके व्रत भावोमें लगें।

शुभ अशुभ भावके परिहारमे क्रमके विस्मरणका अनौचित्य—भैया ! तीसरी जो अवस्था है, जहाँ अव्रत और व्रत दोनो ही भाव नही हैं वह तीसरी अवस्था अव्रत भावके बाद प्रकट नही होती, वह व्रत भावके बाद प्रकट होती है। दोनो हेय हैं ऐसा सुनकर मन चलित नही करना है कि जब दोनो हेय है तो फिर पुण्य भी हेय है, इस पुण्यको क्यो किया जाय ? इन व्रतोको क्यो किया जाय। अरे जब अव्रत नही छूट रहा है, पाप नही छूट रहा है ऐसी स्थितिमे पुण्यके छोडनेको भला मान ले तो उसकी क्या गति होगी ? पहिले अव्रतभावोका परित्याग करें और फिर व्रतभावो का ग्रहण करें, व्रतोमे वह दक्ष हो जाय निष्ठित हो जाय फिर शुद्धोपयोगका आलम्बन लेकर इन बातोका भी त्याग करदे। जहाँ व्रतोकी ओर उत्साह नही है वहा उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है।

रात्रिभोजनपरिहारका साधारण नियम—भैया ! कुछ थोडे बहुत नियम

तो होने ही चाहियें । छोटेसे छोटे नियमकी वात कही जा रही है। रात्रिको भोजन करना हिंसासे भरा हुआ प्रवर्तन है। मक्खी, मच्छर, पतिगे आदि अनेक जीव भोजनमे आ जाते है। छिपकली आदि विप भरे जानवर पड जाते हैं। कितने ही लंग तो इससे मरण भी कर जाते है। और फिर दिनमे भी खायें, रात्रिमे भी खायें तो कुछ धर्मचिंतनके लिये समय भी अलग रहता है क्या ? भोजन करते रहनेकी वासना हो तो भी धर्मका प्रवेश नही होता हैं इसीलिए जिन श्रावकोमें यह पद्धति चली आयी है कि सुवह भोजन कर लिया तो उसके वाद ६ घंटेके लिये ८ घंटेके लिये जैसा समय देखते है, वल देखते हैं, आहारका त्याग कर देते हैं। मनमे त्यागकी वात न समायी हो तो उस त्यागसे क्या लाभ ? कौन चलाता रहता है दिन भर अपना मुंह, लेकिन वासना वसी है तो उसके पाप लगता ही है। सामनेसे कोई चाट वाला निकल पडे तो दिल हो ही जाता है, जगह न हो पेटमे तो भी थोडी वहुत गुन्जायश तो निकाल ही लेता हैं, निरन्तर आहारकी वासना वनी रहे तो उसमे धर्मका प्रवेश नही होता। रात्रि का खाना तो कितनी ही दृष्टियोसे हानिकारक है। इस समयमें कमसे कम इतनी तो हर एक कोई निभा सकता है कि पानी और औषधिके सिवाय कोई चीज ग्रहण नही करना। वतावो इसमे कौनसी मुसीवत है ? बीमार हो गए तो औषधि रखी हुई है प्यास लगे तो पानी रखा हुआ है। और, भी कुछ नियम जैसे वाजारकी वनी पूडी, साग, परामटे आदि न खाना। नियम चलने और न चलनेकी वात तो अपने मनके ढिलाव और दृढतापर निर्भर है।

व्रतपालनकी आवश्यकता और उत्कर्ष विधि - तो असयम भावका परित्याग किसी प्रकार करना ही चाहिए। त्यागव्रत निष्फल कभी नही जाता। सम्यक्त्व रहित अवस्थामे भी व्रत हो तो वह भी यथायोग्य सद्गतिका कारण होता है। सम्यक्त्व सहित व्रत हो तो वह सद्गतिके साथ साथ मोक्षमार्गका और कर्म निर्जराका भी यथापद कार्य कर जाता है। अव्रतोका परित्याग करके व्रतोका पालन करना आवश्यक है और व्रतोमे दक्षता पाकर परम पदको पाते हुए व्रतोका भी त्याग करना चाहिए। यह है उत्कृत पानेकी विधि।

❁

यदन्तर्जल्पसपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मन ।
मूल दु खस्य तन्नाशे शिष्टमिष्ट पर पदम् ॥ ८५ ॥

परमपदकी प्राप्तिके उपायके प्रसगमे—पूर्व श्लोकमे यह कहा था कि मोक्षार्थी पुरुपको सवसे पहिले अव्रतोका त्याग न करना चाहिये और व्रतोका ग्रहण करके उसमे निपुण होना चाहिए। पश्चात् परम पदको प्राप्त करके व्रतोको भी छोड देना चाहिए। परम पदकी प्राप्ति होनेपर व्रत भी छुट जाया करते हैं। जैसे कोई कहे कि ऊपर जानेके लिए निचले स्थानको छोडना चाहिए और सीढियोको ग्रहण करना चाहिए और ऊपरी मजिलपर पहुँचकर सीढियोको भी छोड देना चाहिए। तो

सीढियोको क्या छोडना चाहिये ? ऊपर पहुंचनेपर सीढिया तो अपने आप छूट ही गयी। ऐसे ही जब वीतराग निर्विकल्प आत्मस्थिति होती है तो वहा व्रतोका परित्याग हो ही जाता है, जिस परम पदकी प्राप्ति होनेपर व्रतोका भी त्याग होता है वह परम पद किस प्रकार प्राप्त होता है इस ही विषयमे अब इस श्लोकमे मूल तथ्य कहा जा रहा है जिस उपायके बिना शान्ति सम्भव ही नही है।

क्लेशोका मूल कल्पना जाल अतरगमे वचनालापके लिए हुए जो अनेक प्रकारकी कल्पनाओका समूह है वही तो आत्माके दुखोका मूल है। उसका नाश होने पर अर्थात् कल्पनाजालके दूर होनेपर यह इष्ट परम पद स्वयमेव प्राप्त होता है। जीव को क्लेश केवल कल्पनाका है। बाह्य पदार्थ कही कैसे ही परिणमे, कोई कुछ कहा करे अपनेमे कल्पना दुखके योग्य न हो तो दुख नही हो सकता है, कोई पुरुष गाली दे रहा है और कुछ ऐसे शब्दोसे दे रहा है कि अर्थ यह लगाया जा सकता है कि मुझे कह रहा है तो लो इतनी कल्पना होते ही दुख हो गया। एक शास्त्रसभाकी बात है—कोई पडित जी शास्त्र पढ रहे थे, शास्त्र समाप्त हो गया तो शास्त्र समाप्तिके बाद कोई भजन भी बोला जाता है तो एक श्रोताने भजन बोला जिसकी टेक थी—देखे हैं बहुतेरे पडित • आदि कुछ ऐसा ही था कि ऊपरसे वैराग्यकी बाते बोलते हैं और भीतरमे कषायोकी छुरी चलती है। वह भजन ही था। उस श्रोताने पडितजीको लक्ष्य करके नही बोला, बहुतसे भजन होते हैं, अब पडितजी दुखी हो रहे है, शास्त्रसभा ज्यो समाप्त हुई, शास्त्र विस्तार दिया गया, लोग जाने लगे तो पडितजीने उसे पकड कर तीन चार तमाचे लगाये कि मैं ही मिला था तुम्हे यह भजन बोलनेके लिए।

कल्पनाकी बाहर उद्भूति भैया दशलाक्षणीके दिनोमे हरी नही खाया करते है, बच्चे भी नही खाते हैं, ऐसा रिवाज बुन्देलखण्डमे अब भी है। कोई बालक छोटे भी हो तो दशलाक्षणीके दिनोमे हरी नही खाते हैं। किसीकी इच्छा हो तो चोरी से खा लेते है। अब बच्चे ही तो ठहरे। जहाँ दश-पाच बच्चे बैठे है तो उनमे एक-दो ऐसे भी निकलते है जो छुपकरके हरी खा लेते है। बैठे हों और अचानक ही कहदे कोई ऐसा कुछ व्यापक इशारा करके कि उन सभी बच्चोमे हर एक बच्चा यही समझे मेरी ओर इशारा करके कह रहा है, कह दे कोई कि देखो मुहमे क्या बीजसा लगा है, तो जिस बच्चेने कुछ ककडी आदि कोई भी हरी खायी होगी वह झट देखने लगेगा कि कहाँ लगा है। लो पता पड गया। अरे कहने वालेने कहा उससे क्लेश नही हुआ किन्तु भीतरमे जो अपनी कल्पना बनायी उससे क्लेश हुआ। अभी किसी बच्चेने कुछ चुराया हो और सब बच्चे बैठे हो और कोई कहे कि देखो बच्चो, सही सही बतलाओ किसने चोरी की, बता दोगे तो माफ कर दिया जायगा। अच्छा, नही बतलाते तो देखो अभी हम मत्र पढते है और मत्र पढनेके बाद ज्यो ही मत्र पूरा पढा जायगा और हमारा हाथ ऊँचेको उठेगा त्यो ही चोरी करनेवालेकी चोटी खडी हो जायगी। जहाँ वह झूठ मूठका मत्र पढकर अपना हाथ उठायेगा कि तहाँ ही चोरी करनेवाला बालक अपनी चोटीको देखनेकी कोशिश करेगा, कही खडी तो नही हो गयी है चोटी।

तो भीतरमे कल्पना पैदा होती है इससे ये सारी विडम्बनाएँ बनती हैं।

व्यर्थका दु ख – भैया ! वस्तुत सोचो, दु ख किसको है बतावो ? और दु ख सबको है। दु ख नामकी बात नही है, पर है सभी दु खी। ऐसा नही हुआ, यो हो गया। घरमे धन बहुत था, थोडा निकल गया तो क्या हो गया तुम्हारा ? अथवा सयोग–वियोग तो दुनियामे लगे ही रहते हैं। कोई इष्टका वियोग हो गया तो यह तो ससारकी पद्धति है, तुम्हारा क्या हो गया ? तुम तो देहसे भी न्यारे केवल अपने स्वरूपमात्र हो ! तुम्हारे स्वरूपमेसे कौनसी बातकी कमी हो गयी ? क्यो कल्पना बना रहे हो व्यर्थ की कल्पनाएँ तो देखो इस मोही मलिन पापी जीवलोकमे मनुष्य समूहोमे कैसी यह अपनी इच्छा रखना है कि मैं इनमे कुछ बडा कहलाऊँ। अरे, जिनमे बडा कहलाना चाहते हो ये कोई न रहेंगे कुछ वर्षों बाद, अथवा किसीने बडप्पनका वचन कह भी दिया कुछ तो उन्होने अपने स्वार्थवश ही कहा है। किसीका कोई जीव कुछ लगता नही है। सबको अपने अपने प्रयोजनकी पडी है, कषाय वेदनाकी शान्तिकी पडी है, ऐसी सब जीव चेष्टाएँ करते है। यह जीव व्यर्थ ही अपनी कल्पनाएँ बढाकर क्लेश भोग रहा है। परमपद कैसे मिले ? व्यर्थकी बात, गदी बात, नीची बात, स्वरूपविरुद्ध बात तो यह जीव कर रहा है और परमपदके स्वप्न देखना चाहे तो यह कैसे हो सकता है।

दृष्टिकलाकी जिम्मेदारी —भैया ! दो तरहके सुख हैं–एक शुद्धचित् चमत्कारमात्र आत्मतत्त्वके अवलम्बनसे उत्पन्न स्वकीय आत्मीय सुख और एक मोहियो मे होनेवाला कल्पित विषयोका सुख अब देखिए दृष्टि द्वारा दोनो ही सुख मिल सकते है, चाहे आत्मीय सुख पा लो और चाहे वैषयिक सुख पा लो, दोनोमे ही प्रताप अपनी दृष्टिका है। करना और कुछ नही है, केवल भीतरका भाव ही बनाना है। शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिका भाव बने तो आत्मीय आनन्द मिलेगा और बहिर्मुख दृष्टि करके विषयोंसे बडा बडप्पन है, सुख है ऐसे भाव बनाएँ तो वहाँ कल्पित मौज है उस वैषयिक सुखके समय भी विह्वलता है, उसने पहिले भी विह्वलता है भोगनेके बाद भी विह्वलता रहती है। परन्तु, आत्मीय आनन्द पानेसे पहिले भी समता और शाति रहती, आत्मीय आनन्द भोगनेके समय भी समता और शाति रहती, और आत्मीय आनन्द अनुभव करनेके बाद भी शाति और सतोष रहता। ये दोनो ही बातें केवल दृष्टिसे मिल जाया करती हैं, अब किस ओर दृष्टि करना चाहिए यह हम और आपका निर्णय जैसा हो वैसा है, पर सुविधा सब है।

दृष्टिकलाकी जिम्मेदारीका एक दृष्टान्त—जैसे किसी पुरुषके आगे एक ओर तो खलका टुकडा रख दिया जाय और एक ओर रत्न रख दिया जाय फिर उस से कहें कि देखो भाई तू जो मागेगा, जो चाहेगा वही मिल जायगा। अब वह अगर खलीका टुकडा चाहे तो उसे कोई विवेकी कहेगा। इसी प्रकार जब केवल दृष्टि भर देनेसे आत्मीय आनन्द मिल सकता है और वैषयिक सुख भी मिल सकता है, जो कि

दु ख स्वरूप है, तो अब यह दृष्टि करे उन वैषयिक सुखोकी तो इसे विदेकी तो नही कहा जा सकता है। दृष्टि करे तो उस आनन्दनिधि निर्विकल्प आत्मस्वरूपकी जिसके प्रतापसे शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है।

जीवकी विमूढ दशा - यहाँ तो जीवकी ऐसी दशा है कि दु खी होता जाता जिसके कारण, उसीसे राग करता जाता। यह हालत है मोहमे कि जिसके कारण दर दरपर क्लेश भोगना पडता है उसीको ही यह मोही अपनाता जाता है राग करता जाता है, जैसे घरके बूढे बाबाको छोटे छोटे नाती पोते पीटते जाते है, सिरपर भी चढते है, वह दुखी भी हो जाता है फिर भी उन पोतोसे राग ही करता जाता है। जैसे जिस मिर्चके खानेसे सी सी करते जाते है, आसू भी गिरते जाते है, कौर भी मुश्किलसे गुट का जाता है, फिर भी लाल मिर्च और चाहिए और चाहिए मागते जाते हैं ऐसे ही मोही मोह कर करके दु खी होते है। इस मोहमे कुछ दूसरा उपाय सूझता ही नही है सो उसी मोहकी चीजको ही अपनाते रहते है। जहा ऐसी विरुद्ध कल्पना जगती है वहा परम पद कैसे प्राप्त हो सकता है।

तृष्णाकी चोट यह जीव शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको भूला हुआ है यह आत्मतत्त्व इन्द्रियके गोचर नही होते यह मोही प्राणी इन्द्रियसे परे अतीन्द्रिय निर्विकल्प सहज तत्त्व भी कुछ है इसकी श्रद्धा इसको नही है। सो यह व्यामें ही जीव आत्मस्वरूपका भूलकर वाह्य विपयोमे उलझ रहा है। कैसी उलझन लगी है, लाखोका धन है और एक हजार रुपया ही कम हो गया, गिर गए या दे दिया या कोई छुडा ले गया, कितना कष्ट अनुभव करता है। जव वहुत छोटी स्थिति थी, हजार दो हजारकी ही सम्पत्ति पासमे थी तव इतने कष्टका अनुभव न करता था। आज तो उससे १०० गुणी सम्पत्ति है किन्तु करे क्या ? वर्तमान सम्पदापर सतोष कैसे आये, क्योकि जो नही मिला हुआ है और जिसकी आशा लगाए हुए है उसकी अप्राप्तिका तो दु ख मचा हुआ है ऐसी तृष्णाके वश होकर यह जीव वची हुई सम्पदाका भी सुख नही लूट सकता है, इन सव दु खोका मूल कारण ये अतरगके सकल्प विकल्प जाल हैं। तृष्णा बूढी नही होती है, खुद बूढे हो जाते है तृष्णा नही मरती, खुद मर जाते है कैसा यह तृष्णाका रग इस चिदानन्दस्वरूप अमूर्त निर्लेप ज्ञानप्रकाश सर्वश्रेष्ठ आत्मापर लदा हुआ है।

अज्ञानीका हल्ला पर्यायमुग्ध जीव इन चमडेकी आँखोसे वाहर जो कुछ देखता है उसे सत्य समझता है। अरे जितना जो कुछ आखो दिखता है वह सव झूठ है, तू सच वताता है। क्या दिखता है ? यह आकार। ये मिट जाने वाली चीजे हैं, ये परमार्थ नही है, क्या दिखता है आखोसे ? रूपरग। ये सव मिट जाने वाली पर्याय हैं, स्वतत्र चीज नही है। और आखो दिखेकी वात क्या इन पचेन्द्रियसे और सकल्प करनेवाले मनसे जितना जो कुछ जाना जाता है वह सवका सव माया है। भगवान भी इस तरह नही जानता जिस तरह हम आप जाना करते हैं। भगवान यह नही जानता

कि यह अमुकप्रसादका मकान है क्योंकि यदि भगवान ऐसा जान जाय तो फिर अमुकचन्दका मकान वह बिल्कुल पक्का हो गया, अब मिटे कैसे? भगवानने जान लिया यहा सरकारमे की हुई रजिस्ट्री फेल हो जायगी, पर भगवानका ज्ञान तो फेल नही होता पक्की रजिस्ट्री हो गयी यदि भगवान जान जाय कि यह अमुकका मकान है। भगवान नही जानता है यो, पर यह मोही जीव जानता है कि यह मेरा मकान है, यह इनका मकान है, यह भगवानसे भी बढकर ज्ञानी बनना चाहता है। जो भी बडा बननेका यत्न करता है वह धोखा खाता है। भगवान सब पदार्थोंको जानता है। जैसा है तैसा जानता है, तो वह असत्यको कैसे जान जाय? असलमे हम आपको परस्वामित्वविषयक यह ज्ञान नही है, सब अज्ञान है। भगवानके अज्ञान नहीं है। अज्ञान तो मोहियोमे है।

कल्पनामे बेचैनी अज्ञानी प्राणी कितनी कल्पनाएँ बनाता है, जिनका पार नहीं। कोई खुशीका समाचार मिल जाय तो उसकी कल्पनामे रातभर यह नींद नही लेता कितनी कल्पनाओकी दौड लग गयी, कितना यह अच्छा हुआ, कोई बडी वेदनाका समाचार मिल जाय तो यह कल्पनाएँ करके रात दिन नींद न लेगा, कष्ट का अनुभव करेगा। है कुछ नहीं, पर इसने अपनी कल्पनामें सारे विश्वको अपनाया है या अपनाना चाहता है। भैया कल्पना जाल मिटे बिना वीतराग परम पदकी प्राप्ति हो नही सकती। यह मोही प्राणी मन ही मनमे कुछ गुनगुनाता रहता है जैसे कहते हैं ना कि हवाई बातें करता है। जब तक यह कल्पनावोंमे ग्रस्त है तब तक इसे सत्य शान्तिका पद प्राप्त नही हो सकता।

कल्पनाजाल मिटनेका उपाय -यह कल्पना जाल कैसे छूटेगा, इसका उपाय यह है कि सर्व कल्पनावोसे रहित ज्ञानमात्र मुझ आत्माका स्वरूप है, इसे श्रद्धामें लाये तो कल्पना दूर हो सकती है। सब उपदेशोका निचोड इतना है। जब तक कल्पना तरग उठती रहेगी तब तक शांति नही मिलेगी। और कल्पना तरंगोका उठना तब ही बद होगा जब अपना ऐसा स्वरूप विदित हो कि कल्पनाजालोसे रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। जब यह ऐसा ही उपयोग बनाता है अर्थात् उपयोगमे केवल जानन, ज्ञानप्रकाश ही रहे, रागद्वेषकी तरग न रहे तब इस जीवको वह परम पद मिलता है जिस परम पदसे सर्व प्रकारके कष्ट नष्ट हो जाते हैं। उसके लिए केवल एक ही ध्यान रखना है कि मै अपने आपको ऐसा अनुभवूँ कि मैं देहसे भी न्यारा रागादिकसे भी न्यारा केवल चैतन्य प्रकाशमात्र हूँ ऐसी शुद्ध दृष्टि बनाना है, फिर इस दृष्टिके प्रसाद से परमार्थ आत्मीय आनन्द अवश्य प्रकट होगा।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्न स्वयमेव पर व्रजेत् ॥ ८६ ॥

परमात्मपदकी प्राप्तिमे विकासक्रम—परमात्माका परम पद प्राप्त होनेका

क्या क्रम रहता है, उस क्रमका इस श्लोकमे वर्णन है। यह जीव अनादिसे ही अव्रत भावोमे तन्मय चला आ रहा है। अज्ञानी भी है और अव्रती भी है। प्रथम तो सम्यक्त्वबाधक प्रकृतियोका उपशम आदिक प्राप्त करके याने उसका निमित्त पाकर आत्मतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा हो, शुद्ध आत्मस्वरूपका अवलोकन हो, इस तरह तो अज्ञान अधकारको दूर करे, अज्ञान अधकारको दूर करनेवाला यह ज्ञानी पुरुष अव्रत भावका परित्याग करे, अव्रती जीव व्रतका ग्रहण करे और व्रती जीव फिर ज्ञानभावना मे लीन होकर व्रत अवस्थाके विकल्पोका त्याग करे। फिर यह ज्ञानपरायण पुरुष केवलज्ञानसे सम्पन्न होता है, और केवलज्ञानसे सम्पन्न होकर फिर सर्वदा सर्वोत्कृष्ट सिद्धपदको प्राप्त होता है।

विकासके पञ्च पद और प्रारम्भिक विकासका उद्यम—भैया! पहले सम्यक्त्व होना फिर व्रत ग्रहण करना फिर ज्ञानभावनामे लीन होना फिर केवलज्ञानसे सम्पन्न होना, फिर इस मनुष्य भवको पार करके सर्व कर्मोंसे विमुक्त होकर सिद्ध पद प्राप्त करना, यो इस श्लोकमे पच पदोका सकेत किया गया है। इन पच पदोकी प्राप्ति से पहिले उसकी प्राप्तिके लिये विशेष उद्यमरूप परिणाम होता है। उत्कर्षमार्गमे चलनेवाला भी सर्वप्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तो यहाँ अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामकी प्राप्ति होती है। ये तीन परिणामोके नाम है, गुणस्थानोके नाम नही है। ये मिथ्यात्व अवस्थामे तीन करण होते हैं। जो जीव सातिशय मिथ्या-दृष्टि है, अब निकटकालमे ही सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला है उसके अध करण, अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होते है। ये हुए सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये तीन करणरूप परिणाम।

द्वितीय विकासपदका उद्यम—सम्यक्त्व पानेके बाद दूसरा कदम है व्रत-ग्रहण करना। व्रतग्रहणके लिये अध करण और अपूर्वकरण इन दो परिणामोकी प्राप्ति होती है। व्रत धारण करनेके लिये तीन परिणाम नही होते हैं। इससे यह भी अदाज कर लीजिए कि जिस कार्यके लिए तीन परिणाम होते हैं वह कार्य सदृश होता है, अनिवृत्त होता है, उसमे न्यूनाधिकता स्थानान्तररूपसे नहीं पायी जाती है। सम्यक्त्व होनेमे तीन परिणाम हुए, तो सम्यक्त्वमे न्यूनाधिकता क्या? सम्यक्त्वके तीन भेद है—उपशमसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व। इसमे उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करनेके लिए तीन करण होते है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पानेके लिए दो करण होते है। यही कारण है कि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमे चल, मलिन, अगाढ दोषके कारण कुछ विविधता रहती है। किसी जीवका क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसीसे अधिक निर्मल है किसीसे कम निर्मल है यह विविधरूपता हो सकती है। कोई यहा व्रत ग्रहण करे अथवा अणुव्रत ग्रहण करे वहा भी दो करणोकी आवश्य-कता है, क्योकि उन अनेक वृत्तियोमे भी व्रतोके पालनेमे कमीवेशी हुआ करती है।

तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम विकासपद—व्रत ग्रहण करनेके बाद अब यह

ज्ञानपरायण होता है। जब परम पद्धतिसे ज्ञानपरायण होता है तो उसीका नाम है श्रेणियोंपर चढ़ना। सो इस सप्तम गुणस्थानमे अध करण, अष्टममें अपूर्वकरण और नवममे अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। इन परिणामोंके फलमें कुछ ही समय बाद क्षीणमोह होकर केवलज्ञानी बन जाता है। यही है परमात्मज्ञान। परमात्मज्ञान से सम्पन्न होकर अन्तर्वाह्य सर्वथा निर्लेप शुद्ध होनेके लिए सर्वथा अबद्ध होनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती वृत्ति चलती है। केवलीसमुद्घात भी इस ही कर्मक्षयके लिए पूरक है। १४वें गुणस्थानमें इन कर्मप्रकृतियोंका क्षय होकर फिर परमदशा प्राप्त होती है। यो यह जीवन अज्ञान अवस्थासे उठकर सिद्ध अवस्था तक पहुचनेके लिए यह क्रम पाता है। इस क्रमका कही भग नही होता है। हा इतना हो जाय कदाचित् कि सम्यक्त्व और व्रत इन दोनोका एक साथ ग्रहण हो जाय, इसीलिए इस श्लोकमे अव्रती शब्द देकर अज्ञान अवस्थाका और अव्रतभावका दोनोका इसमे अतर्भाव कर दिया है।

क्लेशमूल इन्द्रजालोंसे आत्मविमोचन—पूर्व श्लोकमे यह कहा गया था कि इस जीवको क्लेशोंमें जोडनेका कारण कल्पना जाल है, यह कल्पनावोंसे ही अपना क्लेशजाल पूरता है, लोग कहते हैं कि ये सब इन्द्रजाल सरीखे मायामय दृश्य हैं। वह इन्द्रजाल क्यो कहलाता है ? इन्द्र मायने है आत्माका और जालका अर्थ है अयथार्थ मायामय विपरिणमन जब यह आत्मा भ्रमके वश होकर अपनी विडम्बनाएँ फैलाता है तो उन सब विडम्बनावोका नाम है इन्द्रजाल। कल्पना जाल, इन्द्रजाल, मायाजाल ये सब जीवोंके क्लेशोंके कारण हैं। उन विकल्पजालोंसे हटकर निर्विकल्प सिद्ध पद को प्राप्त करें तो उसका क्रम यह है कि अव्रतीसे तो व्रती बनें और व्रतीसे फिर ज्ञान भावनामे लीन हो और ज्ञान भावनामे लीन होकर केवल ज्ञानको प्राप्त करें, और केवलज्ञानसे सम्पन्न होकर सिद्धपद होगा ही।

कल्पनापरिहारसे विकासकी उद्भूति—इस प्रसगमें अव्रत भावको भी त्यागें और अब व्रतको भी त्यागें यह कहा गया है, सो व्रतको त्यागनेका मतलब है उत्कृष्ट ज्ञानभावनामे लीन होकर व्रतका भी विकल्प त्यागें। व्रत त्यागनेका मतलब कहीं यह नहीं है कि अहिंसाव्रत लिया था तो अहिंसाव्रतको छोडदो या सत्य आदिक व्रत लिया था तो सत्य आदि व्रतोको छोड दो, किन्तु अहिंसाके पालन करनेमे जो विकल्प चल रहा था, सत्य व्रतके पालन करनेमे जो विकल्प और प्रवृत्ति चल रही थी उस विकल्पका परित्याग करदो, यह उसका भाव है। अव्रतभाव ५ होते हैं–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। उन पापोमे जो अनुरागी हैं ऐसे जीवोंको कहते हैं अव्रती। ये जीव प्रकृत्या अनादिसे अव्रत परिणाममें अनुरागी होते चले आ रहे हैं। अब ये क्या करें, अव्रतको छोडदें, व्रतको ग्रहण करलें। वहा भी यह अर्थ लेना है कि अव्रत सम्बन्धी जो विकल्प कर रहे थे उस विकल्पको त्याग दें।

भावात्मक जीवकी भावात्मक परिणति—यह जीव भावात्मक है। इसके हाथ पैर आदि कुछ अग तो हैं नही। इसके रूप, रस, आकार, प्रकार तो हैं नही।

यह न किसीसे छिडता है, न छिदता है, न भिदता है, न जलता है, न डूबता है, न उडता है। यह तो एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य तत्त्व है। यह भावात्मक है, अपने भाव करता है—चाहे वह कल्पनारूप भाव हो और चाहे ज्ञातादृष्टा रहनेरूप भाव हो। भावके सिवाय और यह जीव कर क्या सकता है। अव्रत अवस्थामे इस जीवने अव्रत सम्बन्धी विकल्पोको किया और उन्ही विकल्पोके कारण इस जीवको पापका वध हुआ चूँकि ऐसा कभी हो नही सकता कि यह जीव अव्रत सम्बन्धी विकल्प न करे और जीव को सताल रहे, इसी कारण जीवोको मारना पीटना, सताना इसे बुरा कहा गया है। मर्म वहा यह पडा हुआ है किसी जीवको मारने पीटने विपयक जो इस जीवके कल्पना जगी है वह कल्पना पाप है, किसी पर वस्तुके परिणमनसे पाप नही होता। मान लो किसीकी पीठपर आपने मुक्का घाल दिया तो वहा पुद्गल–पुद्गलका ही तो सघात हुआ। वहाँ पाप कैसे लगा ? वहा पाप यो लगा कि मुक्का मारना जिस आत्माके भावका निमित्त पाकर हुआ उस जीवने अपनेमे कल्पना मचायी, विकल्प जाल किया वह विकल्प जाल पापरूप है सो पापका वध हुआ। तो अव्रती जीव अव्रतविषयक कल्पनावोको किया करता है। उन कल्पनावोका परित्याग करना सो अव्रत भावका परिहार करना कहलाता है।

हितमार्गमे ज्ञानभावके आश्रयका प्रसार—अब यहा जीवके व्रतकी कल्पनाएँ आ गयी। अब शुभ भाव दया, दान, सयम जीव रक्षा आदि अनेक शुभ भावोके विकल्प आ गये। अब यह जीव आगेका उत्कर्ष पानेके लिए उन व्रत आदिक शुभ विकल्पोका भी परिहार करे और एक शुद्ध ज्ञान भावनामे परायण हो। यहा यह वात्त विशेष जाननेकी है कि ज्ञान स्वभावकी दृष्टि विना तो मोक्षमार्ग ही नही चलता है, व्रत भी नही होता है अव्रतका परिहार नही कर सकता है, सो उस अव्रतपरिहारोद्यमीने ज्ञानकी झलक पाली है ऐसी स्थिति निकटपूर्व थी अव व्रत धारण करके उसने बहुत से दुर्विकल्पोका अभाव कर डाला। असयत, अव्रत, अनर्थ विकल्पोका परित्याग किया अब उसने ऐसा अवसर पाया। अव निज ज्ञानस्वभावकी अधिकाधिक उपासना कर डाली। अव उसे ज्ञानभावनाका अवसर प्राप्त हुआ, सो व्रती वनकर व्रतका भी विकल्प तोडकर केवल शुद्ध ज्ञानभावकी भावनामे लीन रहता है। इसमे प्रथम दो शुक्ल ध्यानकी अवस्था आती हैं, फिर ज्ञानपरायण होकर यह जीव स्वयमेव ही परात्म ज्ञान सम्पन्न होता है।

शुभविकल्पमय और निर्विकल्प उद्यम—भैया, जहा तक रागभाव था वहा तक हितके कार्यमे इसकी जान बूझकर प्रवृत्ति होती थी। अव्रतसे व्रत अवस्थामे आया और व्रत अवस्थासे ज्ञानपरायण होनेका उद्यम किया, यहा तक तो विकल्प मदद दे रहा था किन्तु अव ज्ञानपरायण अवस्थामे विकल्प नही रहा। अव जो कार्य होगा वह विना यत्न किए समझिये स्वयं होगा ज्ञानपरायण यह जीव परमात्मज्ञानसे युक्त होता है इस ज्ञानका नाम है केवलज्ञान। केवलज्ञानका अर्थ है जहा केवलज्ञान है ज्ञान रहे,

कोई रागद्वेष आदिक किसी भी तरगका लेश मात्र भी न रहे, सस्कार भी न रहे ऐसे परभावसे सर्वथा मुक्त ज्ञानभाव रह गया। जब यह परभावसे मुक्त होता है तो ज्ञानमे ऐसा स्वभाव पडा है कि वह तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जान लेता है। यह हुई इसकी सर्वज्ञ अवस्था। इस अवस्थाको हजारो नामोसे पुकारा गया है। यह केवलीज्ञानी पुरुप स्वयभू होता है, जो कुछ हुआ है वह स्वय होता है, किसी दूसरे पदार्थको आश्रय करके नही होता है। इसने तो विशुद्ध निजस्वरूपकी भावना की, उस ज्ञानभावनाके प्रसादसे यह निर्दोप अवस्था प्रकट हुई है।

भेदविज्ञान और ज्ञानविलास—इस ज्ञानभावनाकी प्राप्तिके लिए भेदविज्ञानकी प्रथम आवश्यकता है। मैं समस्त विश्वसे न्यारा हूँ, केवल निजस्वरूपमात्र हू, निरन्तर परिणमता रहता हूँ। मेरा किसी भी अन्य पदार्थके साथ रच सम्बन्ध नही है। मैं अपने आपको ही करता हूँ, किसी पर पदार्थको नही करता हूँ। मैं अपने आपके द्वारा अपने आपका ही परिणमन कराता हूँ, किसी अन्य पदार्थको मैं प्रेरणा नही दिया करता हूँ। मैं हूँ ज्ञानस्वरूप और साथ ही परिणमनशील। यह परिणमता रहता है ज्ञानभावरूपसे और उसी ज्ञानका स्वभाव जाननका है, सो उसी परिणमनको जान भी रहा है। परिणमना और जानना ये दोनो एक साथ इस आत्मपदार्थमे ही हो सकते हैं। इसी कारण इस आत्माका नाम समय कहा गया है। यद्यपि समय शब्द सभी द्रव्योका स्वरूप वतानेके लिए भी है। जो अपने आपके एकत्वरूपमे रहकर परिणमनको प्राप्त किया करे उसे समय कहते हैं। सम् उपसर्ग है और अय् धातु है। सभी पदार्थ अपने आपके एकत्त्व स्वरूपमे रहकर परिणमते रहते हैं। यह आत्मपदार्थ भी अपने स्वरूपमे एकत्वरूपसे रहकर निरन्तर परिणमता रहता है। यो तो समय शब्दके पहिले अर्थमे सभी द्रव्योका समानरूपसे ग्रहण है, पर दूसरा अर्थ सम् याने परिणमनके साथ ही साथ जो अपने अर्थात् जानता है उसको समय कहते हैं।

समयकी स्वसमयता—यह आत्मा निरन्तर परिणमता रहता है और इस हीको अभेदरूपसे वर्तकर जानता रहता है। वहाँ परिणमन और जानना इन दोनोका कैसे भेद किया जाय? जो कुछ होना है सो हो रहा है। उसको परखनेवाला ज्ञानी जीव सम्यक्त्वको प्रकट करता है। सो यह पुरुप पहिले अव्रतके विकल्पोका परित्याग करके व्रत भावको ग्रहण करे, फिर व्रत सम्बन्धी विकल्पोका भी परिहार करके ज्ञानभावनामे परायण हो और फिर उस शुद्ध ज्ञानकी अभेद उपासनाके प्रसादमे स्वय ही केवलज्ञान होगा और केवलज्ञानसम्पन्नताके बाद स्वय ही यह सिद्ध पदको प्राप्त करेगा यो यह जीव अज्ञान अधकारसे उठकर इस विधिसे उत्कर्ष करता हुआ परमोत्कृष्ट शुद्ध सिद्ध पदको प्राप्त करता है।

●

लिङ्ग देहाश्रित दृष्ट देह एवात्मनो भव'।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहा' ॥ ८७ ॥

लिङ्गके आग्रहमे मुक्तिका अभाव— जैसे अव्रत और व्रतभावमे जिनका विकल्प लगा हुआ था उनको मोक्षका मार्ग नही मिला, उन विकल्पोसे मोक्ष नही मिल सका, इस ही प्रकार जो देहाश्रित लिङ्ग है, भेष है उनमे जिनका आग्रह लगा हुआ है, विकल्प लगा हुआ है उनको भी ससारसे मुक्ति नही होती है। जैसे साधुओके भेष लोकमे देखे जाते हैं, कोई जटा धारण कर लेता है कोई शरीरमे भष्म रमाता है तो कोई नग्न भेष रखता है। कोई भी भेष हो, चाहे जटा वाला हो चाहे भष्म वाला हो और चाहे नग्न रूप हो, आखिर है तो ये सब देहके आश्रय। और, देह ही ससार है, देहके आश्रित ही ये चिह्न है, चिह्नोके नातेसे मुक्तिका मार्ग न मिलेगा। यह बात दूसरी है कि जिन जीवोको मोक्षका मार्ग मिलता है उनके ज्ञान और वैराग्य इतना प्रवल होता है कि उन्हे वाह्य परिग्रहोसे कुछ प्रयोजन नही अतएव वे सब परिग्रह छूट जाते हैं। जब सब परिग्रह छूट गए तो नग्नरूप तो स्वय ही बन जाता है, ठीक है, पर जो साधु नग्नरूप रखकर मैं साधु हूँ, इससे मुझे मुक्ति मिलेगी उस नग्नरूप भेषमे विकल्प बनाए रहे तो भी मोक्ष नही होता है।

विकल्पोके आग्रहमे सम्यक्त्वका भी अभाव जो केवल वाह्य भेषको ही मोक्षका कारण मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, देहात्मदृष्टि है, उसे मुक्ति नही प्राप्त होती है। भैया, अपने आपके मिलनमे कितनी बीचमे अटके है कोई इस भेषको ही मान ले कि मुक्ति मिलेगी मैं साधु बन गया हूँ, मुझे तपस्या करना चाहिए, आदि विकल्प बनाए तो उसने तो यथार्थ मैं को जाना ही नही। उसे विकल्पसे मुक्ति नही होती है, जो जीव व्रत और तपको धारण करके मैं अहिसा महाव्रत पालता हूँ मैं शुद्ध अचौर्य आदि महाव्रत पालता हूँ। मैं ठीक समितिपूर्वक रहूँगा। साधुको १३ प्रकारके चारित्र पालने चाहिये मैं उनका पालन कर रहा हूँ यो सोचे उसको तो अभी सम्यक्त्व ही नही जगा है। भैया ! कितने मर्मकी बात है। वही काम सम्यग्दृष्टि करता है तो उसे सफलता मिल जाती है और वाह्यमे वही काम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि करता है उसे सफलता नही मिलती है।

अज्ञानी द्वारा की हुई वाह्य नकलसे अलाभपर एक दृष्टान्त— कोई चतुर व्यापारी व्यापारके कामसे किसी धानके मिल पर गया। उसके साथ एक गरीब बेवकूफ भी लग गया कि देखे सेठजी क्या करते है। जो सेठजी करेंगे सो ही हम करेंगे तो हमारे भी लक्ष्मी आयगी। व्यापारीने क्या किया कि १०-२० गाडी धान खरीदा, वह देख रहा है कि यह क्या खरीद रहा है। रूप, रग, आकार सब समझ लिया। व्यापारी खरीदकर आ गया। अब यह दो चार दिन बाद इधर उधरसे रुपये उधार लेकर उसी मीलपर गया। तो आज कल तो ऐसे बडे मिल चल गए हैं चावल निकालनेके कि छिलकामेसे चावल निकल आता है और छिलका ज्योका त्यो दिखता रहता है। एक तरफसे ऐसा चावल निकल आता है कि छिलका वैसाका वैसा ही बना रहता है। चावल निकलनेके बाद उसका छिद्र बद हो जाता है। देखा कि गाडियोमे वही चीज पडी हुई हैं। मिलवालेसे पूछा कि यह चीज हम १० गाडी खरीदना

चाहते हैं क्या भाव दोगे ? इतनी वात सुनकर मिलव्यय-थापककी समझमे आ गया कि आज भगवानने किसी वेवकूफको भेजा है, सो मनमाना भाव वोलकर उसे वेच दिया। जव उसे खरीदकर वह वाजारमे वेचने ले गया तो किसीने न पूछा। लो उस की सारी रकम चली गयी। तो चतुर आदमीकी नकल वेवकूफ, पुण्यहीन करता है तो क्या उसे सफलता मिलती है ?

अज्ञानी द्वारा की हुई ज्ञानीकी वृत्तिकी वाह्य नकलमें लाभका अलाभ -- विवेकी व्यापारीकी तरह वडे पुरुष ज्ञानी सत, मोक्षमार्गी साधुजन क्या करते है उनकी क्रियावोको देखकर कोई रसोईया, वैल हाकने वाला, पानी भरने वाला किसी कारण से देखकर सोचे कि जो यह करता है सो हमे करना चाहिये इस विधिसे हम दुखोसे छूट जायेंगे। और करले वही काम, मुनि वनकर, नग्नरूप रखकर अपनेमे अहकार रखकर मैं साधु हूँ, अव मुझे साधुव्रत मिला है, अव चर्याको इस तरह उठना चाहिए, इतनी निगाह रखना चाहिये, और जो लिखा भी न हो वह भी वढावा करे तो कितना ही वह इस व्रतसे रहे, पर अतरगमे तो अभी सम्यक्त्व भी नही जगा है। यह लिङ्ग मायने यह भेष, यह चिह्न तो देहके आश्रित है उस चिन्हसे, उस भेषसे ही मोक्षमार्ग माने तो इसका यह अर्थ हुआ कि इस शरीरको ही मोक्षमार्ग मान लिया। जो भेषमे आग्रह बनाता है वह पुरुष भी ससारसे मुक्त नही हो सकता है, इस भेषका आधार देह है और देह ही इस आत्माका ससार है। देहका अभाव हो तो ससार नही है। जव तक देह है तब तक ससार है। तो देह सम्वन्धी इन विकल्पोको करता हुआ यह शान्ति चाहे, मुक्ति चाहे तो कहांसे मिल सकती है ?

समस्त ऐवोका मूल देहका लगाव भैया, सारे ऐवोकी जड इस देहका लगाव है। कोई गाली सुना गया तो बुरा क्यो लग गया ? इस देहका लगाव है, इस कारण ये विकल्प उठ रहे है, इसने मुझे यो क्यो कह दिया। अव उन विकल्पोंके कारण सब वात अपने ऊपर घटाता और दुखी होता है, देहमें लगाव है तब तो स्त्री पुत्र, घर, सम्पदा इनको यो मानता है कि यह मेरा है। देहरहित अमूर्त आत्मतत्त्वको माने कि यह मैं हूँ तो वह यह नही श्रद्धा कर सकता है कि ये पुत्र स्त्री मेरे हैं, जिसने अपने अन्तरमे स्थित मैं को पहिचाना है उसको वाह्यमे ममता नही जग सकती है। सारे क्लेशोका मूल कारण इस देहमे आत्मबुद्धि है। लोग शान्तिके लिए रात-दिन अथक प्रयत्न करते है। इतना काम करले, एक रोजिगार और करलें, पैसा कमावें, खूब जोडे, सारे राग रग खेल लेते हैं, पर शान्ति नही मिल पाती है। विपरिणतिमे शान्तिकी भी कुछ पद्धति ही नहीं है, कैसे शान्ति मिले।

वैभव विभावके परिहारसे ही महत्त्व - कल्पना करो कि जितना आपके पास धन हो उससे दुगुना तिगुना चौगुना हो जाय तो कौनसी वडी विशेपता अतमे प्राप्त हो जायगी। आज थोडा विकल्प है, थोडा धन होनेसे थोडी फिकर है, रक्षा आसानीसे होती है। धन अधिक हो गया तो विकल्प और अधिक वढ गए। कौनसा

लाभ पाया ? अरे हिम्मत करके इस धन सम्पदाको पुण्यपर निर्भर करदो, इस लक्ष्मी की अटकी हो तो मेरे घर आये, न अटकी हो तो न आये। हम पुराणोमे वडे आदर्श चरित्र सुनते है, अमुक महापुरुप ने ऐसे सकट भोगे जिसने सकट भोगा उनका ही तो चरित्र पुराणोमे लिखा है कि भोगविषय साधनोमे जो जीवन भर लिप्त रहे, उन्ही साधनोमे मर गए उनका भी चरित्र कही आदरणीय हुआ है कही नही लिखा है। अगर लिखा भी है किन्ही मलिन पापी पुरुषोका चरित्र पुराणोमे जिनने अन्याय किया अथवा जीवन भर विषय साधनोमे रहे तो किसी विशिष्ट पुरषके पुण्यचरित्रका मुकावला दिखानेके लिए लिखा है, उसके लिये नही लिखा है, अथवा ऐसा खोटा चरित्र होकर भी फिर अपने जीवनमे कभी सुधर गया तो उसका चरित्र लिखा गया है।

वैभवके लगावसे शान्तिका अभाव भैया, क्या होता है सम्पदासे जितना यत्न करके दूसरोसे आशा करनेमे समय गँवाते हैं, धन सम्पदाकी रक्षा चिंता और रवयमे समय गँवाते है उसका कुछ भी अश यदि ज्ञानाभ्यासमे, आत्मस्वरूपकी निगाह बनानेमे, ध्यानमे, चितनमे, सत्सङ्गमे विताया जाय तो उसमे शाति मिल सकेगी। शान्ति सम्पदावोंसे नही मिलती है। आखिर सम्पदा छोड तो सभी जायेगे, आगेकी भी शातिका अवसर नही रहा और वर्तमानमे भी कुछ भी वैराग्य न होनेसे, तृष्णाकी बुद्धि होनेसे शाति नही मिली तो यह मानव जीवन किस लिये पाया गया है। सव ऐबोका मूल इस शरीरमे आत्मबुद्धि करना है। जो जीव इस देहमे आग्रही है, इस देहके भेषके आग्रही है जिसने इस भेषको ही मुक्तिका कारण माना है, जो ससारको अपनाए हुए है वह मुक्ति नही पा सकता है, फिर तो वतावो जो विषय भोगोके आग्रही हैं, जो परिग्रह तृष्णाके आग्रही है, धन बढे तो उसीमे ही जो अपना वडप्पन समझते हैं उनकी क्या गति होगी, वे ससारसे क्या सुलटने लायक है ? जड ही जड उपयोगमे बसाये हुए है, चैतन्य तो वसा ही नही है।

स्वप्नके क्लेश— अहो मोह नीदका कितना विकट स्वप्न है। जैसे स्वप्नमे किसी ने कोई दुख भरी घटना देखी तो वह तो दुखी ही है। उसके दुखको दूसरा कौन मेट सकता है। जैसे मान लो आप अपने अच्छे कमरेमे, हालमे पडे हुए हैं, जहाँ गद्दी तवकी अच्छी विछी हुई है, जाडेके दिन हैं अच्छे किवाड भी लगे हैं, विजलीसे गरम किया हुआ है। बडे आरामसे सोये हुए है, रच भी कष्ट नही है। और कदाचित् स्वप्न आजाय आपको चलो जी शैर करने चलें, एक समुद्रकी शैर करे ? वाम्वे चले और आपके घरके सभी लोग आग्रह करें कि हमे भी वम्बई दिखलावो। लो सब घर वाम्वे पहुच गया घरके द्वारपर खूव मजवूत ताले लगा दिये, समुद्रकी शैर करने चले स्वप्नकी वात सुना रहे है। आप पडे है अपने हालमे फिर स्वप्न ऐसा आ जाय कि सपरिवार आप समुद्रकी शैर करने गये। नावमे वैठ गए, एक मल तीक जहाज अच्छी तरह गया। किन्तु अव वहाँ बडी भवर उठ गयी। जहाज उसमे चक्कर खाने लगा। डूबने वालाहो तो आप गिडगिडा रहे है उस नाव खेनेवालेसे। अरे भाई किसी तरह

मे वचा दो तुम्हें ५हजार देंगे, १०हज र देंगे। वह कहता है कि मालिक तुम तो दयालु हो यह जहाज नही वच सकता है, यह डूवेगा हमें छुट्टी दो, हम तो छलाग मारकर तैरकर पार हो जायेंगे।

स्वप्नके क्लेश मिटनेका उपाय - देखो भैया! पडे हैं आप अपने अच्छे हालमे और स्वप्न आ रहा है ऐसा बुरा। अरे मैं भी मरा, मेरा परिवारभी गया, ऐसा सोचकर वह कितना दु खी हो रहा है। अरे जिसका सर्वस्व डूव रहा हो उसके दु ख का क्या ठिकाना! अव आपके इस दु खको कौन मेटे? नौकर चाकर भी फिर रहे हैं, दोस्त भी वैठे हुए हैं कि सेठजी जगे तो दो चार गप्पें हो, चित्त प्रसन्न करें, सारे वहाँ साधन हैं, पर सेठजीका तो हाल बुरा है। स्वप्नमे वह ऐसा दव गया है कि महा सकट उसपर छाया हुआ है। उस दु खको दूसरा कौन मेटे। उस दु खके मिटनेका केवल एक ही उपाय है कि उसकी नीद खुल जाय लो सारे दु ख मिट गए। उस नीद में पडा हुआ जो स्वप्न दिख रहा है उसका ही तो यह सारा क्लेश था। नीद मिटी, देखा कि हम तो वड अच्छे हालमें पडे हैं, वडे ढगसे हैं, सारी अपनी सम्पदाको देख रहे हैं, सारा दु ख मिट गया।

मोहनीदके विकल्प स्वप्नके क्लेश और उसके मिटनेका उपाय—भैया, जैसे नीदमे स्वप्न आया उसमें क्लेश हुआ तो उस दु खको मिटानेमे समर्थ निद्राका भग है, इसी प्रकार मोहकी कल्पनामे जो ये सारे क्लेश व्यर्थके आ गए हैं - मेरा तो मेरा यह तन भी नही है अन्य कुछ तो क्या होगा मेरा। फिर भी वाह्य पदार्थोंमे यह कल्पना वसायी है मेरी सम्पदा है, मेरा परिवार है, मेरे मित्र है, मेरी इज्जत है ये स्वप्न देखे जा रहे हैं, मैं मैं मेरा मेरा कर रहे हैं और ये पर पदार्थ हम आपकी इच्छा के अनुकुल परिणमन कर नहीं सकते, वहाँ तो जो होगा सो होगा, अव उन्हीं कल्पनाओके सहारे ये चिंताएँ उत्पन्न हो गयी है— हाय ये मेरा कोई कहना नही मानते, ये सव प्रतिकूल हो गए यो दु खी होते रहते हैं। इस दु खको कौन दूसरा मेटे? इस दु खको मेटनेका उपाय केवल एक ही है, यह मोहकी निद्रा टूट जाय, वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो जाय, प्रत्येक पदार्थकी जो स्वतत्रता है वह ज्ञात हो जाय। किसी पदार्थका किसी पदार्थमे कोई प्रवेश नही है, अत्यन्ताभाव है, निमित्तनैमित्तिकभावमे भी निमित्तभूत अर्थ वाहर वाहर ही रहता है, भीतर इसका प्रवेश नही है। इतनी आजादी ध्यानमे आये तो ममता टूटे, अहकार मिटे, तव वहाँ इस जीवको शान्तिका मार्ग मिल सकता है।

वाह्य विभिन्न पोजीशनोमे भी अज्ञानका साम्य—अज्ञानके नातेसे सव अज्ञानी समान हैं। एक गृहस्थ अज्ञानी है जो धन सचयमे, पोजीशन वनानेमे इज्जत रखनेमे अपनी धुन वनाये हुए हैं और एक नग्नभेषी, जटावाला भस्मभेषी या अन्य कोई प्रकारके स्वरूपका अज्ञानी हो तो यह अपनी कल्पना किए हुये चारित्रमे धुन लगाये हुये है। मुझे यो करना है। तो यह भी देहात्मदृष्टि वनकर अज्ञानी ही रहा कर्मोंकी

निर्जरा शरीरकी क्रियायें निरखकर नही होती। वहाँ तो उस प्रकारका परिणाम आत्माका होना चाहिये जिसका निमित्त पाकर कर्मनिर्जरा हुआ करती है। ये भेषके आग्रही पुरुष भी देहमे आग्रही है, ससारके आग्रही है, इनको भी ससारसे मुक्ति प्राप्त नही होती है।

देहलिङ्गके आग्रहके परिहारका अनुरोध—भैया! जैसे व्रत पालनके विकल्प होते सन्ते मोक्ष नही मिलता है ऐसे ही इस शरीरके भेषके रखनेमें भी मोक्ष नहीं मिलता है। व्रतका विकल्प तो शुभ भाव भी है वह तो कुछ लाभकारी भी है, पर देहका भेष बनाकर यह मैं साधु हूँ, यो देहाश्रित वृत्ति करके उसमे मग्न रहा करे तो वहा तो भाव भी शुद्ध नहीं रह पाता है। भीतर अज्ञान भाव है इस कारण इस लिङ्ग के आग्रहको भी छोडकर ज्ञानमात्र अपना दर्शन करे। यह आत्मदर्शन ही दृढ होकर मोक्षका साक्षात् कारण होता है।

●

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भव ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रह ॥ ८८ ॥

जातिके आग्रहमे मुक्तिका अभाव—जैसे अव्रतके विकल्प, व्रतके विकल्प और लिङ्गके अर्थात् साधु भेषके विकल्प मुक्तिमे बाधक हैं इस ही प्रकार जाति सम्वधी विकल्प भी मुक्तिके बाधक हैं। जाति देहके आश्रित देखी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्ध ये चार प्रकारकी जातिया हैं। ये देहके आश्रित ही तो हैं देहसे ही तो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिककी कल्पनाएँ होती है, मात्र चैतन्यस्वरूपमे जातियोकी कल्पना नही है, ये तो जातिया देहके आश्रित हैं, देह ही आत्माका ससार है, इस कारण जो जीव जातिमे आग्रह पकडे हुए हैं कि मैं अमुक जातिका हूँ, मुझे मुक्ति तो नियमसे होगी अथवा मेरी जातिसे ही मुक्ति है यो जातिमे ही आग्रह किए हुए है वह भी ससार से मुक्ति नही प्राप्त कर सकता है।

जातियोके प्रकार और जातिव्यवस्थाके पहिलेका समय—प्राचीन पद्धति मे चार प्रकारकी जातिया हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये चार जातिया उनके अपने कर्तव्योंके आधारपर बनी थी और उन कर्तव्योको करते रहनेसे उस ही जातिके उस ही प्रकारके भाव हुआ करते हैं, इस कारण ये चार जातिया सुदृढ हो गयी हैं। इस आर्यखण्डमे जहा हम आप वस रहे हैं और प्राचीन समयमे जिसका कि कुछ कम एक कोडा-कोडी सागर गुजर गया है यहा भोग भूमि थी। भोगभूमिमे जीवोको, मनुष्योको कोई रोजगार आरम्भ नही करना पडता था। लौकिक सुखिया जीवन था, जहा पति-पत्नी स्वच्छन्द विचरते थे। दो दिनमे, तीन दिनमे जिस समय भूख लगती थी, अल्पाहार था, कल्पवृक्ष उस समय काफी सख्यामे थे सो उनका जो इष्ट भोजन था वह उन कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होता था। इसी प्रकार जो कुछ भी शौकके साधन थे, वस्त्र

हो सगीतकी चीजे हो, जितने भी शौकके साधन हुं ते हैं वे भी कल्पवृक्षसे प्राप्त हो जाते थे। उनका लोक दृष्टिमे वडा सुखिया जीवन था। लेकिन समय जैसे गुजरा तैसे ही सुखमे कमी आने लगी। उन कमियोके समय १४ मनु उत्पन्न हुए।

भोगभूमि और कर्मभूमिके सन्धिकालमे मनुवोका अभ्युदय भैया! १४ मनु तो अन्य लोग भी मानते हैं। मनुके ही सतानका नाम मनुज है। मनुज नाम मनुष्यका है। उन मनुवोके उस समय जो विडम्बनाएँ आती थी अपने अवधिज्ञानादि वलसे सोच समझकर वे प्रजाको उपदेश करते थे, वे वताते थे कि इस तरहसे चलो तो जीवन सुखमय रहेगा। भोगभूमिके समयमे सिह हिरण, मनुष्य ये सभी रहते थे। डर किसीको किसीसे न था। उनमें क्रूरता न थी। वे माँसभक्षी न थे, पर जैसे ही भोग भूमिका अत हो चला तो सिह आदिक जानवर गुर्राने लगे, वुरी निगाहसे देखने लगे। लोगोको वडा भय हुआ, किसी मनुने उनका भय मिटाया। सूर्यचन्द्र ये दीखा न करते थे। वहा स्वय ही इतना वडा उजेला रहता था जिस उजेलेके कारण सूर्यचन्द्र न दिखते थे, अब कल्पवृक्षका प्रकाश कम हो गया सूर्यचन्द्र दिखने लगे तो इसका ही वडा डर हो गया ये क्या दो गोल-गोलसे सिर पर मढे हुए हैं, कही गिर न जाये, इस डरको मिटाया। उस समय तक सतान जुगलिया होते थे वच्चा और वच्ची और सतानके होते ही मा वाप गुजर जाते थे। माता पिताके रहते सते भी वे सतान रहने लगे, उनका यह भी एक वडा अचरज था कि यह क्या झमेला हो गया? ये दो क्या टूट पडे। कितनी ही विडम्बनाएँ आयी, सवका मनुवोंने निवारण किया।

अतिम मनु—अतिम मनु हुए हैं नाभिराज। ये ऋषभदेवके पिता थे, लोग ऐसा कहा करते हैं कि विष्णुकी नाभिमेंसे कमल निकला उसमे पैदा हुए। अर्थ यह था कि नाभिसे पैदा हुए। आपको मालूम है कि ऋषभदेव जव सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो गए तो उनमे इतना अतिशय हो गया कि समवशरणके चारो ओर वैठे हुए मनुष्य तिर्यञ्च देव देविया सवको भगवानका मुख दिखता था। परमौदारिक शरीर था, चारो ओरसे मुख दिखता था। तव उनकी प्रसिद्धि चतुर्मुख रूपकी हुई। चतुर्मुख अरहत भगवान हुये हैं। साथ ही उस समय एक धर्मकी सृष्टि की और भोगभूमि मिटनेके वाद कर्मभूमिकी नई-नई वातें वतायी। एक नवीन सृष्टि जैसी वात हुई इसलिये वह सृष्टि ब्रह्माकी कहलाती थी और वे हुये नाभिराजासे उत्पन्न। तो नाभि कोई राजा थे यह वात तो छोड दी और नाभिसे उत्पन्न हुये यह अर्थ प्रसिद्ध हो गया। खैर नाभिराज १४वें याने अन्तिम कुलकर थे।

अन्तिम मनुके कालमें तीन जातियोका विभाजन—नाभिराय मनुके समयमे खाने पीनेकी वहुत वडी समस्या सामने आयी, कैसे खायें पियें। कल्पवृक्षसे सव कुछ मिलना वद हो गया तो उस समय नाभिराजने प्रार्थनामे आये हुये प्रजाजनो को ऋषभदेवके पास भेजा तो उन्होने वाणिज्य, शिल्पी, सेवा ये सव ६ प्रकारके कर्म वताये। इनसे गुजारा करो, व्यापार खेतीसे गुजारा करो, शिल्पकला, सेवासे गुजारा

करो, लिखने पढने मुनीमी सभी बाते बतायी और शासकोके लिये सिपाहियो रक्षकोको असि तलवार आदिक हथियारोका भी प्रयोग सिखाया, उस समय तीन वर्णोंकी स्थापना ऋषभदेव ने की क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो रक्षाका काम करे उन्हे तो क्षत्रिय कहा, जिनका असिप्रधान कार्य रहा। जो शिल्प सेवा करनेमे चतुर हो ऐसे पुरुष शूद्र कहलाये और मसि कृषि, वाणिज्य इन कार्योके करने वाले वैश्य कहलाये। ये तीन प्रकार वहुत समय तक चलते रहे।

भरतचक्री द्वारा ब्राह्मणोकी व्यवस्था व आस्था— एक बार भरत चक्रवर्तीने विवेक जाननेके लिए अपने यहाँ आमन्त्रण किया और आगनमे कुछ धान वो दिया। अकुर उत्पन्न हो गये। सब लोग आयें, उनमे जो विवेकी पुरुष थे वे धानोके अंकुरोको बचाकर कुछ रास्ता घेरकर आये अच्छे रास्तेसे और जो विवेकहीन थे वे उन अकुरोको कुचलते हुए जल्दी पहुँचनेकी गरजसे कौन चक्कर काटे, सीधे पहुँच गये उस समय भरतजीने उन विवेकी पुरुषोको ब्राह्मण बताया ये जीवको पहिचानते हैं; ब्रह्मको जानते है। 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण' ज्ञानी कहो, ब्राह्मण कहो, सयमी कहो एक ही अर्थ है, उन्हे ब्राह्मणकी सज्ञा दी। शेप तीन तो थे ही। उनमे जो विवेकशाली थे उनको ब्राह्मण ठहराया। उनका बडा सत्कार किया। ऐसे बुद्धिमान, ऐसे विवेकशील महाभाग पुरुषोका आदर करना उचित ही था। तवसे ये चार जातिया अभी तक किसी न किसी रूपमे चली आ रही है।

समयनिर्गमनमे यथावसर अनेक जातियोका बनावा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियोमे अव धीरे धीरे विवाह परम्परा शुरू हो गयी थी एक धर्मपद्धति रखनेके लिये अपने कुटुम्बियोमे विवाह करनेकी प्रथा न थी, उसीको कहते हैं गोत्र। जो अपने परिवारके लोग हो चाहे दस, बीस पीढी पुराने हो वे सब अपने कुटुम्बके लोग हैं, यह कैसे जाने ? तो यह गोत्रसे जाना जाता था। विवाह परम्परामे गोत्र मालूम किया जाता था, लेकिन धीरे धीरे कुछ और ऐसे भगत भाईजी उत्पन्न हुये जो अपनी वडाई स्थापित करनेके लिये कुछ और उपजातियां बना वैठे—खडेलवाल, परवार, जैसवाल, अग्रवाल, गोललारे गोलासिंघारे जो किसी गाँवके कारण, किसी समूहके कारण भेद पड गया। अव यह भेदका विस्तार वढता गया और उन भेद और जातियोके नामपर विसम्वाद भी वढते चले गये। ये सब फिर और जातिया वन गई वैसे तो प्राचीन जातिया ४ ही है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

जातिकृत आग्रह— अव समय गुजरनेके अनुसार कुछ जातियोके व्यक्तियोको अहकार हो गया। उच्च कुलमे है, धर्म करनेका हमको ही अधिकार है, सो ऐसा हुआ करता होगा। अध्यवसाय वन गया कि वे यह जानने लगे कि मैं अमुक जातिका हूँ। मुझको ही मोक्ष होता है जातिमे आग्रह कर वैठे। भले ही यह वात सम्भव है कि जो उच्च कुलमे उत्पन्न हो, उच्च जातिमे उत्पन्न हो उसका ही परिणाम ऐसा निर्मल होगा कि जो मुक्तिको प्राप्त कर सके। लेकिन इतना होनेपर भी जो जातियोमे आग्रह

कर बैठे उसे मोक्ष नही होता है। जैसे वज्रवृषभ नाराच सहननके बिना मुक्ति नही मिलती, जिसका शरीर इतना दृढ होता है कि वज्रकी ही हड्डी, वज्रकी ही वेठन और वज्रकी ही कीलिया हो, इतना सुदृढ जो हो वही पुरुष मोक्ष जाता है। ठीक है किन्तु वज्रवृषभनाराच सहननी हे कर जो अपने शरीरमे आग्रह कर बैठे उसके तो मुक्ति नही हो सकती है, यो ही जो उच्च कुलके अभिमानी हैं, आग्रही है, इससे ही मुक्ति होती है, ऐसी दृष्टि जो लगाये हैं उनकी कहासे मुक्ति होगी, वे तो विकल्पोमे ही उलझ गये हैं।

ससाररुचिमे ससार मुक्तिकी असभवता— जैसे पूर्व श्लोकमे वताया है कि देहके लिङ्गके, साधुओंके भेष ये मुक्तिके कारण नही हैं, देह ही आत्माका ससार है इसी प्रकार इस श्लोकमे भी यह वताया जा रहा है कि जाति देहके आश्रित है। देह आत्माका ससार है, जो इस देहमे इस जातिमे मुक्ति पानेका आग्रह किऐ हुये है उनको ससार सकटोसे मुक्ति नही मिलती है। जातिविषयक आग्रह होना सो तो ससार ही है। ससारकी रुचि करके ससारको कैसे छोडा जा सकता है, जिसकी जिसमे रुचि है उसका सम्वन्ध तो दृढ वनेगा, छुटकारा कैसे होगा जिन्हे ससार सकटोसे छुटकारा पाना है उन हितार्थी जनोको ससारसकटोसे रुचि तो होना ही न चाहिये। जिन्हे देहसे मुक्ति चाहिए। जब देह मात्रका भी विस्मरण हो जाय, अपने इन्द्रिय मन विषयक जो भी साधन हैं उन सवका विस्मरण हो जाय, व्यवहार विकल्पोका भी विस्मरण हो जाय, यो कहो कि सव कुछ परतत्त्वोका विस्मरण हो जाय तो इसके ज्ञानभाव विकसित होता है, निर्विकल्प शुद्ध अतस्तत्त्वकी उपलब्धि होती हैं।

उत्प्रेक्षाजालकी अकल्याणरूपता— भैया! सर्व ही प्रकारके विकल्पजाल छूटें तो आत्माका कल्याण है।-इस प्रसगमे कुछ श्लोकोसे यह वात दिखायी जा रही है कि ससारके कष्टोका मूल कारण उत्प्रेक्षा जाल है अर्थात् कल्पना समूह है। कल्पनायें ही तो क्लेश हैं। कल्पनावो विना क्लेशोका और क्या रूप हो सकता है। किसी भी प्रकारकी कल्पना न हो तो वहा कोई क्लेश ही नहीं रह सक्ता है। अव वह कल्पना किन्हीके कर्तव्यविषयक है, किन्हीके अव्र भावविषयक है और किन्हीके व्रतभाव विषयक भी कल्पनायें हो जाती हैं किन्हींके साधुभेषविषयक कल्पनाएँ हो जाती है मैं अमुक हूँ, वाह्य पदार्थोको अपनाकर उस ही रूप अहका विश्वासी कोई रहते हैं। इस प्रसगमे यह वताया जा रहा है कि किन्हीको जातिविषयक कल्पना मोहमे हुई।

मोहमे जातिका व्यामोह—देखो भैया, मोहका नाच कि जो जिस जातिमे उत्पन्न हुआ है वह अपनी जातिको भीतरकी श्रद्धासे शेष लोगोसे ऊँचा मानता है, यह प्राकृतिक वात हो गयी है। जैसे ब्राह्मणसे पूछो तो वह यह विश्वास रखता है कि हम ब्राह्मण ही सर्वोपरि है, वैश्योसे पूछो तो वे यही विश्वास रखते हैं कि चतुर और विवेकी उच्च तो हम हैं। इसी प्रकार अन्यसे भी पूछो तो यह ही उत्तर मिलता है। और विशेपतामे जावो तो एक धर्मके ही माननहार होनेपर भी अग्रवाल, लँवेचू, गोलालारे आदि कितनी ही उपजातियाँ है, उनसे पूछो तो जिस जातिमे जो पैदा हुए

हैं उनको यह विश्वास है कि जाति तो शुद्ध पवित्र एक यह ही मेरी है, ऐसा कुछ प्राकृतिक व्यामोह पडा हुआ है, जो जातिमे अपना आग्रह बनाए हुये है मैं तो अमुक हूँ उनको बुद्धिमे एक अटक आ गयी है इसी कारण वे निष्पक्ष ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्वके दर्शन नही कर सकते है।

निर्विकल्पतत्त्वकी दृष्टि द्वारा विकल्प परिहारका अनुरोध – जो जीव जातिके आग्रहके परित्यागी है उनके ही मुक्ति सम्भव है। मुक्तिके मायने है निर्विकल्प दशा। निर्विकल्प दशा निर्विकल्प होनेका ही तो नाम है निर्विकल्पताकी प्राप्ति हम विकल्पोका आग्रह करके करले तो यह कभी हो नही सकता है। विकल्पोके आग्रहमे विकल्पोकी ही सतान बढेगी और निर्विकल्प अतस्तत्त्वके आग्रहमे निर्विकल्पस्वरूपक अनुभव होगा इस कारण हे मुमुक्षु पुरुषो! सर्व प्रकारकी जाति लिङ्ग, भेष व्रत, अव्रत तपस्या सर्व ही प्रकारके अहकार रूप विकल्पोको त्यागकर एक इस निर्विकल्प अतस्तत्त्वमे प्रीति करो। इस शुद्ध चैतन्य प्रभुके अवलम्बनसे ही सहज आनन्दका स्वाद आयगा ये रागादिक भाव तो इस आत्मतत्त्वमे ही नही, उनकी पकड, उनका आग्रह तो विह्वलताका ही कारण है इस कारण समस्तपरतत्त्वोमे आग्रहको त्यागकर एक निराग्रह निर्विकल्प शुद्ध आत्मस्वरूपकी ही सेवा करो।

जातिलिङ्गविकल्पेन येषाॅ च समयाग्रह ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परम पदमात्मन ॥ ८९ ॥

देहाग्रहके लिये आगमग्रह रखनेवालोके भी मुक्तिका अभाव – जिन जीवोके जाति और भेषके विकल्पके माध्यमसे आगमका आग्रह हो गया है वे पुरुष भी आत्माके परम पदको प्राप्त नही कर सकते हैं। आगममे लिखा है कि नग्न भेषसे ही मुक्ति होती है, इसीलिए हमने नग्न भेष धारण किया है। इस नग्न भेषसे मुक्ति होगी ऐसा जिसका आगममे शपथ खाकर आग्रह है तो, और आगमकी शपथ न लेकर भी आग्रह है। यद्यपि शास्त्रोमे लिखा है वह ठीक है, नग्न भेष धारण किये बिना वैसी निर्मलता नही जगती है। उससे मुक्ति होती है किन्तु इस आग्रही मे तो उस तत्त्वके लिये थोडा भी नही विचारा है ऐसा किन्तु अपनी हठको मजबूत बनानेके लिये शास्त्र की आड ली है और वह अपने विकल्पोका आग्रह दृढ कर रहा है इस कारण वहा भी मोह है, अथवा किसी भी जातिका किसी भी भेषका सरकार रखकर और ऐसा भाव रखकर कि हम इस धर्मके मानने वाले है, हमको तो मुक्ति होगी। यह सब आग्रह अज्ञानकी प्रेरणाका है।

जैन मजहबके आग्रहसे भी असिद्धि —हम जैन हैं, जैन धर्मसे ही मुक्ति है ऐसा जिनके आग्रह है उनके भी अभी बाह्यमे ही बुद्धि अटकी है। जैन धर्म कहाँ है? शास्त्रोमे है, कि पोथियोमे है कि मदिरमे है कि जिस जैन धर्मसे मुक्ति कही गयी है।

किस जगह अपनी निगाह रखकर कह रहा है यह कि जैन धर्मसे ही मुक्ति होती है ? यह बाहरमें निगाह रखकर कह रहा है तो अज्ञान है। आत्माका जो स्वभावको पहिजानकर ये रागादिक विषय कषाय आदि शत्रु जीते जाते है, जो इनपर विजय प्राप्त कर लेता है उसको विजयी कहते हैं, उसको जिन कह लीजिए। ऐसे विजयी पुरुष ने जो मार्ग बताया है उसे जैन मार्ग कहते हैं इसको सुनकर भी जिनने बाहरी क्रियावो मे, विकल्पोमे जिन मार्ग खोजनेकी बुद्धि लगायी है वे भी अभी बाहरमे भटक रहे है। वह जैन धर्म, वह जैन मार्ग अन्यत्र नही है। मेरा जैन मार्ग मेरे स्वरूपमे है और जिस स्वरूपसे है वह स्वरूप मोक्षका मार्ग है।

धर्मके नामके आग्रहमे भी मुक्तिका अभाव – धर्मका नामकरण करनेमे महत्त्व घट जाता है, मुक्तिका कारण धर्म है। उस धर्मका कुछ नाम तो बना दीजिए बस पक्ष हो जायगा। जैन धर्म कोई मजहब है क्या ? जैसे अन्य जातियाँ, अन्य मजहब अन्य धर्म है इस तरह कोई जैन धर्म है क्या ? हाँ अब हो गया एक जैन धर्म। जैसे और धर्म है वैसे ही अब जैन धर्म हो गया है। कब हो गया ? जब हम उसके नामके पक्षमे पड गये। नहीं तो जो आत्माका स्वभाव है, आत्माका तत्त्व है, सहज भाव है उसका आलम्बन है वह धर्म है पर करें क्या, व्यवहारमे कुछ नाम धरना ही पडता है। रख लीजिए नाम पर उस नाममें जो आग्रह रखता है वह अज्ञानी है उसको मुक्ति नही है और जिसका नाम रखा गया है, जो उसको तकता है वह ज्ञानी है। जैसे बैंकोमे रुपया लोग जमा करते हैं तो खजाची व्यक्तिको कुछ नही देखता है वह तो नामके अक्षरोको देखता है, अक्षर मिल गए तो ठीक है। कोई लोग ऐसे भी होते हैं जो तीन चार तरहसे दस्तखत किया करते हैं। तो दस्तखत यदि न मिलेंगे तो रुपये भी न मिलेंगे। वह व्यक्तिको नही देखता है, वह तो अक्षरोको देखेगा। उसे तो नामका आग्रह है, व्यक्तिका आग्रह नही है। भले ही ऐसा मेल है कि वैसा ही नाम वैसे ही दस्तखत वहीका वही कर पाता है, पर उसे व्यक्तिसे प्रयोजन नही है, नामसे प्रयोजन है। यो ही व्यवहारी जीवने नामसे प्रयोजन रखा है, जिसके लिए नाम रखा गया है उसपर इस व्यामोहीकी दृष्टि नही है।

देहाश्रित धर्मके आग्रहमे मुक्तिका अभाव – धर्म तो वह है कि कोई भी आत्मा उसकी निगाह करले तो नियमसे सतोष, तृप्ति पायगा। अपना यह दुर्लभ मानव जीवन सफल करेगा, पर ऐसे धर्मकी दृष्टि विरले भागको प्राप्त होती है। जैसे कोई अपने आपमे यह श्रद्धा रखे कि मैं वैष्णव हूँ हिन्दू हूँ, ईसाई, हूँ, मुसलमान हूँ किसी प्रकारकी आत्मीयता रखे माया रूपमे आग्रह करे तो उसे तत्त्व मर्म नही दिख सकता। यो ही मैं जैन हूँ यो प्रतीतिमे रहे तो उसे तत्त्व मर्मके दर्शन नही हो सकते क्योकि इसने उस नामके माध्यमसे अपने स्वभावको तिरोहित कर दिया है और उस नामका कुछ आकार प्रकारसा जानकर बाह्यकी ओर दृष्टि लगा ली है। मैं कुछ नही हूँ, जितने भी व्यवहारके रूपक हैं उन सबका निषेध कर दो। अरे! जब मैं मनुष्य

ही नही हूँ तो मनुष्य देहके नातेसे जाति भेष मजहब गोष्ठी वातावरण ये सब भी क्या मेरे है ? मैं तो एक जाननहार पदार्थ हूँ, ऐसा भावात्मक जिसको दर्शन है उसे है सत्य का आग्रह । जो लोग जातिका नाम रखकर और प्रमाण देकर कि देखो ना शास्त्रमे लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसी उच्च जातियोको मोक्ष होता है, लिखा है ना ठीक है, मैं उच्च जातिका हूँ, मुझे मोक्ष होगा, ऐसा नाम रखकर गर्व करते हैं उन्हे मुक्ति कैसे होगी । अरे इस दृष्टिने तो तुझे ससारमे भटका रखा है । इन विकल्पोको न करके विधिपूर्वक अपने मोक्षमार्गकी धुनमे लगे रहें तो सफलता मिलेगी ।

अज्ञानीका देहाग्रहकेलिये शास्त्रका दुरुपयोग— भैया ! यह व्यामोही धर्मके नामपर करता भी काम है और करके नही जानता है तो व्यर्थका श्रम सहा । जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाले अमुक भेप धारण करें तब ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा शास्त्रोमे भी लिखा है । ऐसा शास्त्रोका भी आग्रह करे तो अभी वह नाम तो धर्मका रख रहा है पर बाह्य तत्त्वोकी ओर विकल्पमे फसा हुआ है, वह भी मुक्तिको प्राप्त नही हो सकता है, क्योकि जाति और लिङ्ग दोनो ही देहके आश्रित है, यह देह है ना, तब तो जातिका नाम पडा । यह देह है ना, तब तो कुछ भेषका नाम पडा । और देहके आश्रित जाति लिङ्गका आग्रह किया और उसके ही समर्थनका लक्ष्य रखकर शास्त्रका नाम लिया ऐसी स्थितिमे उसने विकल्पोका ही आग्रह किया । वह इस ससारसे कैसे छूट सकता है ।

धर्मका स्वय प्रकाश— कोई पुरुप कुछ प्रतीति न करे यो कि मैं अमुक वर्ण का हूँ, अमुक मजहबका हूँ, अमुक धर्मका माननेवाला हू, अमुक पोजीशनका हूँ इस देह मात्रका भी विकल्प न करके केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निहारता जाय तो उसे स्वय ही निरुपम अनुभव होगा जो वास्तविक आनन्दको लिए हुये है । उस अनुभवके बाद उसे स्वय खबर हो जायगी कि धर्म कहाँ है । इस तरहकी ही ज्ञाता दृष्टारूप परिणति करना सो धर्म है ।

व्यामोह महासकट— भैया, कितना बडा सकट इस जीवपर छाया है कि है तो यह स्वय सहज ज्ञानानन्द स्वरूप समस्त परपदार्थोंसे न्यारा अपने स्वरूपस्तर मात्र, किन्तु मान रखा है इसने अपना यह सब वैभव और ये सब कुटुम्ब और ये मित्र मडल कि ये ही मेरे सब कुछ हैं । ऐसी जो इसमे विकल्प तरग उठी है यह विकल्प एक बडा बोझ है । और बडी गदगी है इसने ही इस जीवको भटका रखा है । यथार्थ श्रद्धान नही हो पाता इसी कारण किसी भी क्षण वास्तविक शान्तिका अनुभव नही हो पाता । विषयोके भी साधन मिले तो ये मोही उन साधनोमे मौज मानतेतो हैं, मगर अन्तरमे पीडित रहा करते है । आकुलताओंसे भरा हुआ वह मौज है । नाम ही उसका मौज है । मौजमे क्या अर्थ भरा है, सो और ओज मिलावो तो मौज बन जाता है वहा ओज नही रहता है उसे कहते हैं मौज । आत्माका ओज आत्माका बल, ज्ञान, ऐश्वर्य, काति, आत्माके ज्ञान चमक ये सब जहाँ नही रहते हैं उसका नाम है मौज ।

मौज उपनाम बरबादी— जहाँ यह जीव मौज समझता है वह इसकी बरबादी है जितना दु खमे यह जीव साहसी बन सकता है उतना यह वैषयिक सुखमे साहसी नही बन सकता है। जितनी वीरता, गम्भीरता, उदारता, दया दु खमे हुआ करती है उतनी वैषयिक सुखमे यह जीव कुछ नही कर सकता है। कितनी ही दृष्टियो से देखो तो यह सासारिक सुख गया बीता है ! वस्तुत सासारिक सुख और दु ख दोनों मे ही समान आकुलताएँ हैं, और इनमे अज्ञानता पडी हुई हैं। क्या करे, जब कुबुद्धि आती है, मति उल्टी हो जाती है तो अपनी ही करतूतसे अपनी ही बरबादी करता है और खुश होता हुआ अपनी बरबादी करता रहता है।

विविक्तताकी प्रतीतिमे मुक्तिका दिशा—इस देहके विकल्पमे जाति लिङ्ग के विकल्पमे और बाहरी रूपके धर्म मजहबके आग्रहमे भी मुक्तिका मार्ग नही है। मुक्तिका मार्ग उसे ही मिलता है जो अपनेको इस दुनियाके लिये मरा हुआसा समझलें मुझे दुनियासे कुछ न चाहिए मैं मैं हूँ, मेरा क्या दुनियासे वास्ता है। अन्य पदार्थ इस मुझमे क्या कर सकते है। जब तक इतना विविक्त न हो जाय, अपनेको केवल अकेला न अनुभव करले तब तक इसको मोक्ष मार्ग नही मिल सकता है। अतमे इस जीवको अपना एकत्व दर्शन ही इसका रक्षक है, जितना चाहे भटक लीजिए, जिस किसी भी दिन शान्तिका रास्ता मिलेगा उस सब भटकनेका त्याग करके ही मिलेगा।

मोहविषका विषय—अहो, जब तक मोहका उदय है तब तक यह जीव अपने मोहका विषय तो बदलता रहता है किन्तु मोह विषको छोड नही सकता है। जब छोटा बालक है तो उसके मोहका विषय और कुछ ढगका है, जब यह कुछ बडा तो उसके मोहका विषय फिर स्त्री आदिक बन जाते हैं, जब कुछ और बडा हुआ तो मोहका विषय पुत्र, सण्तत्ति, लोक इज्जत आदिक बन जाते हैं। कदाचित् यह धर्मका पथ भी ग्रहण करे व्रती बने, उदासीन श्रावक बने, साधु बने तो यदि ऐसी अज्ञान अवस्था है तो मोह तो वहा होगा ही अब यह मोहका विषय कुछ और बना लेता है। मैं सबसे अच्छा काम कर रहा हूँ, मैं व्रती हूँ इन सबसे न बने ऐसा मैं श्रेष्ठ कार्य कर रहा हूँ। ऐसी भावना रख रहा है उसके बाह्यकी ही वृत्ति है, अपनेको उसने किसी अन्य पर्यायरूप मान लिया।

अज्ञान प्रभावकी समानता—भैया ! लोकोक्तिमे कहते हैं ना कि जैसे नाग नाथ वैसे सापनाथ। अथवा जैसे उदई वैसे भान, न इनके चुटई न उनके कान चाहे यह घरमे रहता हो चाहे घर छोडकर नग्न साधुभेष रख लिया हो जब तक अतरगसे मोहविष दूर नही होता, इस पर्यायसे भी विविक्त केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने प्रभुका दर्शन नही होता तब तक दोनो ही अज्ञानी हैं। घरमे रह रहा है वह और घर छोड कर बडी बडी कठिन तपस्या कष्ट सह रहा है वह। अन्तरमे अज्ञान दोनो जगह है, जहा देहका हठ है, देहके आश्रित होनेवाले कार्यका हठ है, देहाश्रित विभावोका हठ है वहा तो अज्ञान ही है।

क्रोधादिकसे अवनतिका अनुमान—भैया ! बतावो तो जरा, भला जिसने सर्व पदार्थोंसे विविक्त चैतन्यमात्र निजतत्त्वका दर्शन किया है उसे क्यो क्रोध आना चाहिये ? है उदय कषायकी परिणतियाँ होती है पर जरा–जरासी बातोपर क्रोध आने लगना, क्रोध बना रहना, रच, रच बातपर विकट गुस्सा कर लेना यह तो कुछ मात्र चारित्र मोहकी परिस्थितिवाली बात तो नही लगती । क्यो होता है इतना क्रोध साफ उत्तर है–अज्ञान ह।नेसे जब कषायरहित शुद्ध ज्ञानमात्र निजतत्त्वको ही देखा हो तो इस मायामयी दुनियामे मेरा अपमान हुआ, ये लोग क्या समझे, ऐसी दुर्बुद्धि क्यो होती है ? नही होना चाहिए ना, पर होती है । तो जैसे गृहस्थ अज्ञानी है वैसे ही भेष रख कर भी यह अज्ञानी बना हुआ है । कोई पुरुष धर्ममे त्यागमे ऊँचा बढता है तो उसके मान कषाय बढती है या उतना अधिक नम्र हो जाता है । जो धर्म मार्गमे जितना ऊँचा बढता है वह उतना अधिक नम्र हो जायगा या उतना अधिक मान कषायवाला हो जायगा ? नम्र होना चाहिये । मार्दव धर्म आना चाहिये । किन्तु ज्यो ज्यो धर्ममे ऊँचे बढे त्यो, त्यो ऐसी बुद्धि बना लेते है कि मैं इतने स्टेण्डरका त्यागी हो गया हूँ और ये श्रावकजन हैं । इनमे मुझे इस तरहकी बडी पोजीशनसे रहना चाहिये । अगर कुछ मान कषाय बढता है तो यह धर्म क्या मान बुद्धिका कारण है या मार्दव बुद्धिका कारण है । होती है कुछ मानकी वृद्धि तो स्पष्ट समझ लीजिए ना कि जो अज्ञान गृह स्वजनोमे है वही अज्ञान यह भेष रखकर भी बना हुआ है । यो ही बहुत सी बातें है ।

सबके लिए शान्तिका एक उपाय—जो लोग धर्मका, लिंगका, भेषका, मजहबका, इनका आग्रह करके अपने आपको तृप्त, तुष्ट, कृतकृत्य मान लेते हैं वे आग्रही पुरुष हैं । इन विकल्पोसे भी मुक्ति नही होती है । ऐसे विकल्प करनेवाले लोग आत्मा के परमपदको प्राप्त नही कर सकते । कोई भी हो, गृहस्थ हो या साधु हो, शान्ति मिल नेका ढग सबको एकसा बताया है । विकल्प छोडकर निर्विकल्प अतस्तत्त्वके निकट पहुँचये, शान्ति मिलेगी । सर्व उपाय करके यही शुद्ध भाव प्राप्त करने योग्य है ।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिन ॥ ९० ॥

त्यागका प्रयोजन—पूर्व तीन–चार श्लोकोमे यह बताया गया था कि जाति और लिङ्ग ये देहके आश्रित है और देह ही आत्माका ससार है, तो देहसे रुचि करने का अर्थ है ससारसे रुचि करना और देहाश्रित जातिमे आग्रह करनेका अर्थ है ससार से रुचि करना, और भेषमे भी कल्याणके आग्रहके करनेका नाम भी है ससारमे रुचि करना, तब कल्याणके वास्ते यह आवश्यक है कि जातिकी, भेषकी, और देहकी ममता का परित्याग करे और एतदर्थ ही आपमे विराजमान जो परम ब्रह्मस्वरूप है उसकी प्राप्ति करे । इस भावको लेकर ही विवेकी पुरुष भागोका परित्याग करते हैं क्योकि

पच इन्द्रियके भोगोमे जब तक प्रवृत्ति रहती है तब तक इस ब्रह्म चैतन्य स्वरूपकी प्राप्ति नही होती है। और, इस निज सहज स्वरूपके भान बिना देह और देहाश्रित भेष एव जातिकी ममता नही छूट सकती है। इस ससारकी रुचि छुडानेके लिए यह एक उपाय है कि भोग साधनोका परित्याग करदे। सो कुछ विरले पुरुष भोगोसे भी हट जाते हैं।

बाह्य त्याग कर चुकनेपर भी मोहका आक्रमण – भैया घर छोड दिया, धनका त्यागकर दिया, जगलमे रहते हैं, यो बहुत कुछ त्याग भी कर दिया लेकिन मोहकी ऐसी विचित्र लीला है कि ममताका त्याग करनेके लिये भोगोका परित्याग किया गया है, कुछ समय बाद जब मोह अपना बल दिखाता है दबा हुआ मोह उखडता है तो पुन इस ही देहमे, जातिमे लिङ्ग, भेषमे प्रीति करने लगता है। इसमे अज्ञान अवस्थामे घटनेवाली प्राकृतिक घटना भी दिखा दी गयी है। कोई पुरुष बडे अच्छे भावसे सब कुछ परित्याग करके साधुव्रत अगीकार करता है, पर कुछ दिन साधुव्रतमे रहनेके बाद अपने देहमे अपने देहाश्रित क्रियामे, अपनी जातिमे, भेषमे अहकार हो जाता है। यो यह अज्ञानी देहको लक्ष्य करके यह मैं हूँ और मुझे यो करना चाहिये इस प्रकार उस देहमे ही प्रीति करने लगता है जिस देहकी ममताके त्यागके लिए छोडा है।

धर्मभेषमे ममताका ढग – देखो भैया ! धर्मभेषमे भी इस अज्ञानीके ममताका ढग बदल गया है पर ममता नही मिटी। पहिले यह मोह परिवारसे करता था, धन सम्पदासे मोह करता था, अब बाह्य परिग्रहोका त्याग करनेके बाद, साधुव्रत अगीकार करनेके बाद इसका मोह अपने भेषमे बन गया, तब देहको निरखकर महत्ता का अहकार करनेमे, विशिष्टताका भाव बनानेमे कि इन लोगोमे विशिष्ट हूँ, यह मोह का प्रसार चलने लगा। इस ही बातपर आचार्यदेव खेद प्रकट करते हैं कि देखो तो मोहकी लीला कि जिस ममताके त्यागके लिये सब कुछ परित्याग किया गया है, भोगो के साधन भी छोडे गए है, ठड गरमी भी सहन करते है और फिर भी उस देहमे ही प्रीति करते है पहिले तो मैं गृहस्थ हूँ, धनिक हूँ, ऐसे भाव करके अच्छे कपडे पहिनना और अच्छे शौकमे रहना इस प्रकारकी मोहकी प्रवृत्ति चलती थी। अब हम साधु है इनको इस तरहसे बैठना, यो उठना, देहको निरखकर साधुताका गर्व आना, अन्य पुरुषोको देखकर भक्तोको देखकर ऐसा निर्णय करे कि ठीक है ऐसा ही होना चाहिये, मैं साधु हूँ, अपनी पोजीशनका भाव आना ये सब देहकी ही ममता है। अब इस रूपसे देहमे प्रीति की जाने लगी है। रागका विषय अब मोहमे इस प्रकार बदल गया है, अब धर्म भेषमे, साधुव्रतमे आनेपर कुछ समय तो ज्ञानकी बात सुहाती रही पर जिसके मोहकी प्रबलता हो जाती है तो कुछ समय बाद सामायिकमे अथवा धार्मिक क्रियाओमे ज्ञानाभ्यासमे रागद्वेष न करके समता परिणाम बनाये रहनेकी वृत्तिमे इन सब बातोमे द्वेष होने लगता है, उपेक्षा होने लगती है। अब समय हो गया है सामायिकका, ध्यानका, करना चाहिये, करना पडता है। तो प्रीति नही रही।

दिखाना, काहेकी वनावट करना, वह दिखावट, वनावट, सजावटसे परे रहता है। इसी कारण यह ज्ञानी जीव किन्ही भी परिस्थितियोमे आया हुआ हो, उसके नीच भाव नही उत्पन्न होते।

अज्ञानी और ज्ञानीकी परिणमनपद्धतिका उदाहरणपूर्वक समर्थन—भैया! जैसे स्वर्ण कितना ही कीचडमे पडा हुआ हो, पर उसमे जग नहीं चढती और लोहा थोडा भी सर्द पाये तो उसमे जग चढ जाती है। ऐसे ही ज्ञानी जीव किसी भी परिस्थितिमे हो उसके मलिन परिणाम नही होते, और अज्ञानी जीव कभी सामाजिक परिस्थितिके कारण या अन्य कारण कुछ धर्मका नेतृत्व भी कर लेता हो, पर वहाँ उसका आशय सत्य नही रहता है। अपनी इस मायामयी दुनियामे इज्जत चाहनेके लिए उसकी ये धर्म क्षेत्रकी वृत्तियाँ होती है इस कारण अन्तरमे वास्तविक ज्ञान और वैराग्यको अपना उपकारी नही मान पाता जिसका अर्थ यह है कि अपकारी मानता है ऐसा दृष्टिदोष इस अज्ञानीमे पडा हुआ है इसी कारण लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि पडित तो वैरी भी हो तब भी भला है किन्तु मूर्ख मित्र भला नही है, क्योकि मूर्ख अपनी योग्यता माफिक जो वृत्ति वनायेगा, चाहे वह मालिकका मित्र भी हो और भीतरमे हित भी चाहता हो, तो भी उसकी परिणति मित्रके अहितमे निमित पड सकती है, जब कि विवेकी, ज्ञानी, पडित किसी कारणवश उपेक्षा करता हो, जैसे लोक कहते है कि वैर रखता हो, या यो कहलो कि वह वैरी भी हो तो भी वह अहित और अपकार नही कर सकता। क्योकि, उसका ज्ञान नीचवृत्ति नही करने देता है। मूर्ख पुरुष असमयमे अनवसरमे मित्रकी वढाई करदे तो वही बढाई मित्रके अपयशके लिए हो सकती है या अन्य कुछ भी हितकी चाहसे मूर्ख उद्यम करे तो वह अहितका कारण वन सकता है। मूर्खता पशुता दोनोमे कविजन अन्तर नही मानते हैं।

मूर्ख मित्रसे अमित्र पडितकी श्रेष्ठता—एक ऐसा कथानक है कि एक पडित कवि दरिद्रतासे परेशान होकर सोचने लगा कि अब कैसे गुजारा हो कुटुम्बका, सब लोग भूखे पडे रहते है, चलें कही चोरी करें। परिस्थितिने उस कविको चोरीके लिए प्रेरित कर दिया। सोचा किसकी चोरी करें, किसी गरीबकी चोरी करनेमें तो उसका वडा नुकशान होगा। राजाकी करें चोरी और थोडी करें जितनी कि जरूरत है, जितनेसे कुटुम्बका सेवन हो। राजमहलमे किसी प्रकार पहुँच गया, रात्रिका समय था। कुछ आहट मिली तो भीटमे छिप गया, राजा बडे कमरेमे सो रहा था राजाके पहरेके लिए एक मूर्ख बदर जो सिखाया हुआ था तलवार लिए हुए पहरा दे रहा था, चारो तरफ यहाँ वहाँ देखे और राजाकी रक्षा करे। एक मक्खी राजाकी नाकपर बैठ गयी तो बदरने उस मक्खीको उडा दिया। पर मक्खीकी कुछ आदत ऐसी होती है कि यदि किसीकी नाक उसे पसद आयी तो वह वारवार उसी जगहपर बैठती है। सो कई बार वदरने मक्खीको उडाया और वह वारवार बैठे। तो वदरको क्रोध आ गया और सोचा कि जिस नाकपर मक्खी बैठती है उसको ही उडा दिया जाय तो फिर

वह मक्खी कहाँ बैठेगी । सो तलवार उठाकर नाक उडाने ही वाला था कि कवि पडित ने देख लिया । वह इस अन्यायको न देख सका, सो लपककर उसने वदरका हाथ पकड लिया ।

अमित्र विवेकीसे अहितकी असम्भावना अब तो वदरमे और उस पडित मे झपटा-झपटी होने लगी । राजा जग गया । तो राजाको उस कवि पडितने सब वृत्तान्त बताया और कहा कि आपने अपनी रक्षाके लिये इस मूर्ख वदरको तैनात किया, यदि मैं हाथ न पकड लेता तो आज आपकी मृत्यु हो जाती । राजा ने उसका बडा उपकार माना और जानना चाहा व पूछा कि पडित जी महाराज ! आप यहाँ किस प्रकार पधार गये ? आपका पधारना तो हमारे लिए वड़ा हितकारी हुआ । तो पडित ने बता दिया अपनी सारी बात कि महाराज मैं दरिद्रतासे पीडित था, कलके लिए खानेका सेजा न था सो मैंने आपके यहाँ ही चोरी करनेकी सोची थी । इसलिए आपके यहाँ ही मैं आवश्यक धनकी चोरी करने आ गया पर वदरके द्वारा किए जाने वाले अन्यायको मैं न देख सका - इसीसे इस वदरसे झपट हो गयी । इस कथानकसे प्रयोजन इतना लेना है कि मूर्ख मित्र भी हो तो भी भला नही है और ज्ञानी पडित विवेकी कदाचित् थोडा विमुख भी हो जाय तो भी वह भला है ।

विवेक पोषणका अनुरोध जिस पुरुषने अपना विवेक पुष्ट नही बनाया है वह पुरुष धर्मके नाम पर कितना ही श्रम करे, साधन बनाए फिर भी अज्ञानताके कारण वहाँ धर्म नही टिक सकता है । यो आचार्यदेव इस बातपर खेद प्रकट करते है कि कोई देहममताके त्यागके ध्येयसे त्याग भी करले लेकिन मोहकी लीला इतनी विचित्र है कि वह फिर देहसे प्रीति करने लगता है और जिस आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये त्याग किया है उस ही आत्मकल्याणकी वृत्तिसे द्वेष करने लगता है इसलिये बडी सावधानीकी जरूरत है, और वह सावधानी है अपनी दृष्टिका निर्मल बनाना । अपनी दृष्टिको निर्मल बनाकर ही हम धर्ममार्गमे अवाधित प्रगति कर सकते है ।

अनन्तरज्ञः सधत्ते दृष्टि पङ्गोर्यथान्धके ।
सयोगाद्दृष्टिमङ्गेऽपि सधत्ते तद्वदात्मन ॥ ६१ ॥

अविवेकी पुरुषोका आरोप— जो अन्तरको नही जानता है ऐसा पुरुष जैसे सयोगके कारण लगडेकी दृष्टिमे अधेको आरोपित करता है वैसे ही आत्मा और देहमे अन्तरको न जाननेवाला आत्माकी दृष्टिको शरीरमे आरोपित करता है । कोई लगडा और अधा पुरष जलते हुए जगलके वीच हो तो लगडा तो देखता हुआ भी उस आग से नही वच सकता और अधा चलनेकी सामर्थ्य रखता हुआ भी आगसे नही वच सकता । यदि लगडा अधेके कधेपर बैठ जाय और वह दिशा बताता जाय और अधा चलता जाय तो वे दोनो वच सकते है इस तरहका कही अधे और लगडेका व्यापार

चल रहा हो तो लोग उसे देककर जो अन्तर नही जानते वे सीधा यों समझ बैठते है कि देखो यह पुरुष सावधानीमे चला जा रहा है। दृष्टि तो है लगडेकी और अधेमे लोग आरोपित करते हैं इस ही प्रकार यह जो जगम जगत है यहा दृष्टि तो है आत्माकी और लोग शरीरमे लगाये फिरते है।

अज्ञानियोके मायामे यथार्थताका प्रत्यय अज्ञानी प्राणी समझते हैं कि यह शरीर ही देखता जानता है, इतना ही नही किन्तु यद्वा तद्वा क्रियात्मक जानकर, क्या है कुछ निर्णय न करके इस दृश्यमान शरीरको ही लक्ष्यमें लेकर अनन्तरज्ञ मूढ प्राणी यह जानता है 'यह देखता है' इस प्रकारका व्यवहार करता है, दूसरे अपरिचित आदमी कोई देखे उस अधे और लगडके साझेके कार्य को तो वह यो ही जानता है कि देखो यह अधा कैसा जल्दी सावधानीसे साफ साफ जा रहा है, ऐसे ही जो व्यामोही पुरुष है वे ही इस त्रस और स्थावररूप पर्यायको निरखकर 'यो ही सब जन्मते है मरते हैं, खाते है, वासना बनाया करते हैं' यो समझता है, पर जो अन्तर जाननेवाला ज्ञानी है वह जैसे वहा यह स्पष्ट जान रहा है कि देखनेवाला तो यह लगडा है और उस लगडेकी प्रेरणाको पाकर लगडाकी बताये हुये दिशाका आश्रय पाकर यह अधा चलता जाता है इसी तरह इस पर्यायमे भी देखने जाननेवाला तो जीव है और उस जीवकी प्रेरणा पाकर यह शरीर चलता है, बैठता है, अनेक काम करता है।

विपर्यासबुद्धिका कारण - इस श्लोकमे यह बात बतायी गयी है कि मोही जीवोको इस शरीरमे ज्ञाता दृष्टापन जैसा विपर्यास यों हो जाता है कि यथार्थस्वरूपका बोध न होनेसे उन्हे भेदविज्ञान नही हुआ। इस शरीरका और आत्माका वर्तमानमे भी एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जहा जहा शरीरके अग हैं उस उस क्षेत्रमे यह आत्मा भी है, एक तो यह कारण हुआ विपर्यासके लिये, दूसरा यह कारण है कि जीव तो अमूर्तिक है दिखनेमे आने वाला यह शरीर है, शरीर और शरीरकी चेष्टाएँ दीख रही है इस कारण ऐसे ही सीधा भ्रम हो जाता है कि यह ही सब चलता उठता बैठता है, जानता समझता है।

अजगमकी जगमनेयता जैसे अजगम मोटर जगमके द्वारा चलायी जाती है इसी प्रकार यह अजगम शरीर आत्माके द्वारा चलाया जा रहा है। यदि अन्दरसे इच्छाका ज्ञानका कोई प्रभाव न हो तो शरीर चल नही सकता जैसे कि मुर्दा शरीर नही चलता है जैसा है तैसा ही अवस्थित रहता है। इन क्रियावोमे ऐसा भेद कर सके कोई कि इतना तो काम इस जीवका है और इतना काम यह शरीरका है ऐसा भेद कोई डाल सके तो वह सही-सही अन्तरको जाननेवाला है।

पदार्थोमे स्वकीय भावक्रियात्मकता—जितने भी पदार्थ हैं, सबमे भाववती शक्ति होती है। पदार्थ ६ हैं जातिके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। छहो प्रकारके पदार्थोमे भाववती शक्ति है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ भाववान् है, केवल जीव

और पुद्गल इन दो पदार्थोंमे क्रियावती शक्ति होती है। तो एक जगहसे दूसरी जगह चल सके ऐसी बात एक जीव और पुद्गलमे मिलेगी। यह शरीर भी चलनेमे सामर्थ्य रखता है, यद्यपि है यह अचेतन फिर भी जो स्वय चलनेकी सामर्थ्य न रक्खे उसे दूसरा कोई कितनी ही प्रेरणा दे वह चल नही सकता। जो स्वय कुछ सामर्थ्य नही रखता उसपर कितने ही निमित्त आ जुटें क्रिया नही हो सकती है। जिस अनाजमे, वनस्पतिमे पकनेकी ताकत है तो अग्निका, गरम जलका सयोग होता है तो वह पक जाता है, जो चीज नही पकने वाली है उसे कितना ही पकावो कितना ही आग और पानीका निमित्त जुटावो पर वह नही पक सकती है। ऐसे ही इस पुद्गलमे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रमे जानेकी सामर्थ्य है, स्कधोमे कम चलनेकी सामर्थ्य है और जितना हल्का परमाणु स्कध होता जायगा तो उसमे अद्भुत गति होती है। एक परमाणु एक समयमे १४ राजू गमन कर सकता है, यह पुद्गलमे स्वय सामर्थ्य पडी हुई है सो इस शरीर स्कधमे भी चलनेकी सामर्थ्य है, अब निमित्त जुटा है, जीवका सयोग, जीवकी इच्छा जीवका ज्ञान। तो जैसी यह इच्छा और ज्ञान करता है उस प्रकारसे इस शरीर का भी चलना उठना हुआ करता है। भैया ! यद्यपि जीव व पुद्गल दोनोमे क्रियावती शक्ति है फिर भी वहा यह अन्तर डाल सकना कि यह जीवकी क्रिया है और यह पुद्गलकी क्रिया है यह भेदविज्ञानसे ही हो सकता है।

मोही जीवकी परमे अपनायत—मोहका एक कारण यह भी है कि स्वरूपका अपरिचय होनेसे हम यहा यह अन्तर नही डाल सकते है और इसी कारण जो मैं नही हूँ उसे मैं मान बैठता हूँ। यह शरीर मैं नही हूँ पर अन्तर न मालूम होनेसे यह ही मैं हूँ ऐसा इसको विश्वास रहता है। जैसे लोग कहते है कि मेरी बात नही रही, इनकी बात रह गयी। भला उस बातका स्वरूप तो बतावो जो बात रह गयी। आपकी कल्पनाकी हठ रह गयी इसीके मायने बात रह गयी। यह मोही जीव इस बातको भी अपनाता है। मेरी बात नही रही तो मैं जिन्दा ही कैसे रह सकता हूँ। बातको भी यह मानता है कि यह मैं हूँ। बात मायने रागद्वेष विकल्प कल्पना, वितर्क विचार। यह भी परमार्थत मै नही हूँ। जो मैं नही हूँ उसे मान लेना यह अन्तरज्ञान का प्रताप है अर्थात् भेदविज्ञान न होनेसे वह ऐसा समझता है और इसीके कारण सारे क्लेश हैं।

तत्त्व ज्ञान और देहका परस्पर विरोध— जीवका क्लेश क्या है ? यह स्वय ज्ञानस्वरूप है, आनन्दमय है, कहा इसमे कष्ट पडा हुआ है, पर अपने स्वरूपका प्रतिबोध न होनेसे बाह्य पदार्थोंमे इसका सुखके लिये आकर्षण हुआ, वे रहते हैं नही अपने मन माफिक तो हम उनकी विरुद्ध परिणति निरखकर अन्तरमे दुखी रहा करते है। यो यह जीव आत्माकी बुद्धिको शरीरमे लगाये फिरता है और इसी कारण इसको इस शरीरके साधनोसे प्रीति हो गयी है। शरीरके साधन है विषय भोग उनमे इसे अनुराग हो गया है, और जो शरीरके साधन नही है उनसे द्वेष हो गया है।

शरीरके दुश्मन है ज्ञान और वैराग्य। ज्ञान और वैराग्य हो तो शरीरका मूलसे निकट भविष्यमे नाश हो जाता है। मानते है अपनेको शरीररूप और इस शरीरका दुश्मन है तत्त्वज्ञान और वैराग्य। सो जो शरीरका व्यामोही है उसे ज्ञानमे अरुचि होती है। ज्ञानकी उपेक्षा करना, ज्ञानमे घबड़ाहट होना यह तो प्राकृतिक ही बात है। अत जो शरीरके साधन है, खाना पीना और कल्पित सुखके साधन। पचेन्द्रियके विषय व मनका विषय उनमे उसकी प्रीति उत्पन्न होती है।

मैं मैं का व्यामोह - जैसे यथार्थ बातसे अपरिचित पुरुष लगडेकी दृष्टिको अधेमे लगाता है ऐसे ही यथार्थ मर्ममे अपरिचित पुरुष व्यामोही जीव इस आत्माकी सारी क्रियावोंको शरीरमे लगाता है। कोई सभा सोसाइटीमे या किसी अन्य अवसरमे जब किसीको दिलासा देता होता है तो अपनी छाती ठोककर कहता है कि जबतक मैं हूँ तुम्हे क्या फिकर है। घबडावो नहीं, यह मैं आया। यह किसको मैं बोलता है? यह आत्माको मैं मैं नही बोलता है। मेरा नाता आत्मासे है। आत्मा यदि कुछ विचारेगा तो आत्माके लिये विचारेगा। अपनी-अपनी बिरादरीमे रहना सभी पसद करते है पक्षी-पक्षी अपनी बिरादरीके पक्षियोमे बैठेगे। आत्माका जो कुछ चितन होगा वह आत्माके बारेमे होगा सो भी वहा यह पर आत्मा है और मैं उसका विचार करूँ ऐसा नही है, किन्तु आत्मस्वरूपमे ऐसा विचार रखेगा जिससे स्व और परका कोई लक्ष्य न हो। यह अज्ञानी जीव छाती ठोककर मैं मैं जिसे कहता है वह इस दृश्यमान शरीरको लक्ष्यमे लेकर कहता है और, जिस दूसरोंको बचानेका भाव करता है वह दूसरा भी शरीर रूप ही इसके लक्ष्यमे है क्योंकि शरीरका और जीवका इसने कुछ अन्तर नहीं समझा।

ज्ञान ज्ञेयमे मिश्रणका अविवेक —भैया! परके आकर्षणमे काम तो चूकि जीवका बिल्कुल बनेगा नही और ज्ञेयमे है उसका राग तो ज्ञेय सो ज्ञान दोनोंमे मिला कर यह करता है काम किन्तु ज्ञानकी दृष्टिको तो बिल्कुल छोड देता है यह अज्ञानी जीव ज्ञेयकी दृष्टि ही प्रमुख रखता है। मोही पुरुष किसी बाह्य वस्तुको जान रहा है तो उसमे क्या केवल बाह्य वस्तुकी ही कला है? यह ज्ञान यदि बाह्य ज्ञेयको विषय न करे तो क्या यह जानन हो जायगा। यह मोहीका जो जानन बन रहा है वह ज्ञान बन रहा है वह ज्ञान और ज्ञेयका मिश्रण रूप हो रहा है, क्योंकि उस उपयोगमे तो ज्ञेय बसा है और जान रहा है यह उपयोग ही। पर व्यामोही पुरुष उस जाननके सम्बन्धमे साझेदारी तक भी नही मान सकता कि इसमे मुझ ज्ञानका भी ज्ञान है, और ये ज्ञेय विषय है क्योकि केवल ज्ञेयको प्रमुखता दी है इसने।

मिश्रणपर हस्तीका दृष्टान्त —यह व्यामोही पुरुष एक मत्त हस्तीकी तरह विवेक नही कर पाता। जैसे हाथीके आगे हलुवा और घास दोनो रख दो तो उसकी ऐसी वृत्ति न होगी कि इस समय थोडा हलुवाका ही स्वाद ले ले घासको छोडदे। वह हलुवा और घास दोनोको एक साथ लपेट कर खा जाता है। जैसे वह कुछ भी

विवेक नही कर सकता है। यो ही यह मत्त प्राणी ज्ञान और ज्ञेयमे, विवेक नही कर पाता है मिश्रित स्वाद लिया करता है। यो आत्मा और शरीरके भेदको ठीक-ठीक न समझनेवाला मोही प्राणी इस प्रकार भ्रमका शिकार हो रहा है।

भ्रमका विकट सकट—इस जीव पर भ्रमका विकट सकट है। आपके लिए जैसे हम है तैसे ही आपके घरमे बसे हुए लोग है। कुछ भी तो अन्तर नही है। हम आपसे उतने ही भिन्न है जितने भिन्न आपके घरके लोग है। स्वरूपका किला सबका दृढ बना हुआ है किसीके स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश नही है। मोह कर करके मोही जन प्राप्त क्या कर लेते हैं ? कुछ विवरण करके तो बतावो। उस कुटुम्बसे क्या सुख पा लेते है क्या शान्ति सतोष अथवा ज्ञान पा लेते है। क्या पाते है सो विवरण करके तो दिखावो। अरे जब यह मोही कुटुम्बसे मोह ही नही कर सकता तो कुटुम्बसे पाने की बात तो दूर रहो। क्या यह मोही कुटुम्बसे मोह कर सकता है ? आत्माको विषय बनाकर अपने आपकी दृष्टि भ्रममे पाडकर मोहरूप परिणामोसे रगा करता है। वह कुटुम्बियोसे मोह नही करता है। वह तो अपने आपमे ही कल्पना बनाकर गुनगुनाहट करके एक मोहका रग रगीला बनाते जाते है, दूसरो पर क्या कर सकते है ? जब यह दूसरोमे मोह कर ही नही सकता है प्रेम ही नही कर सकता है तो दूसरोसे इसे मिलेगा ही क्या ?

एककी दूसरेमे क्रियाका अभाव—भैया ! विभावके कारण यह अपने क्षेत्र मे पडा पडा दुखी होता है। कुटुम्बी जन अपने क्षेत्रमे पडे पडे दुखी होते है। जैसे दो पुरुष परस्परमे लडे तो लडनेवाले एक दूसरेका क्या बिगाड कर लेते है ? जैसे कोई लडाई ऐसी होती है कि वे अपने ही घरके दरवाजे पर ही खडे खडे क्रोध कर रहे हैं और दोनो ही आपसमे बहुत ज्यादा बातोसे लड रहे है पर वे लड ही नही रहे हैं। वे अपने दरवाजेपर खडे खडे अपनेमे अपना व्यायाम कर रहे हैं, कसरत कर रहे है। दोनो ही इसमे एक दूसरेका क्या करते है ? कदाचित् वे दोनो पासमे आकर भिड जाये तो भिड जानेपर भी वे एक दूसरेमे कुछ नही करते यह अन्तर ज्ञानी पुरुष ही पहिचान सकता है। देखने वाले लोग तो प्राय यह कह देगे कि वाह इसने उसको पीटा है, यह कैसे कहते कि एक ने दूसरेका कुछ नही किया। किन्तु भैया ! आत्म-स्वरूप जितना है उतनेको लक्ष्यमे लेकर बतावो तो सही कि यह आत्मा अपनी इच्छा अपना ज्ञान और अपने प्रदेशका कम्पन इन तीन बातोके सिवाय और कुछ कर भी रहा है क्या ? भले ही इन तीन बातोका निमित्त पाकर यह शरीर चल उठे और इसके उस प्रकारका चलन पाकर दूसरे शरीरमे कुछ प्रभाव बनाये लेकिन इस आत्मा ने तो जिस शरीरमे यह रुका हुआ है उस शरीरमे भी कुछ नही किया, दूसरेका तो करेगा ही क्या ? ऐसा मर्मस्वरूप ज्ञानी पुरुष ही जान सकते है और स्वरूपसे अनभिज्ञ जन तो यो ही देखा करते है कि यह बोला, यह चला, इसने जाना, उसने समझा, जो दृश्यमान शरीर है उन शरीरोको ही लक्ष्यमे लेकर ऐसा बखान किया करता है मोही जीव।

अज्ञानी और ज्ञानीके विवरणकी सन्धि— यहाँ यह बताया गया है कि यह जीव भ्रमसे शरीरको आत्मा मानता है और उससे सम्बन्ध बढाता है और दुःखी रहा करता है। अब इसके विपरीत यह बतायेंगे कि जिसे भेदविज्ञान हो जाता है वह ज्ञानी पुरुष क्या किया करता है।

●

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥ ९२ ॥

ज्ञानीके एककी क्रियाका अन्यमे अनारोप - जिसने भेद देखा है ऐसा पुरुष सयोगवाली बातमे भी एककी परिणति दूसरेमे नही लगता है। अधे पुरुषके कधेपर बैठकर उसे दिशा बताता जाय कि अब आगे चलो, बाँई ओर मुडो, अब दाईं ओर मुडो, अब धीरे चलो यहाँ गड्ढे है, अब ऊँचाई है। इन सब बतानेके निमित्तमे वह अधा अच्छी तरह चला जा रहा है। इस प्रसगमे जिसने भेद देखा है वह जानता है कि लगडेका काम देखना है और अधेका काम पैरोंसे चलना है यह अधा देखकर नही चल रहा है। ऐसे ही जिन पुरुषोने आत्मा और शरीरका भेद जाना है वे पुरुष आत्माकी दृष्टिको, आत्माके जाननको शरीरमे नही लगाते है भैया जैसे कि अज्ञानी जीव किसी भी पर्यायवालेको निरखकर, पशु पक्षी मनुष्य आदिकको देखकर यो कहते हैं कि इसने जाना, इसने देखा, ऐसा ज्ञानी जीव विश्वास नही करते हैं। वे जानते हैं कि जानन देखनहार तो इसमे आत्मा है और ये जड अचेतन पौद्गलिक स्कध हैं, ये जानते देखते नही है।

सयुक्त दशामे भी ज्ञानीका विवेक यहाँ यह प्रसग चल रहा है कि सासारिक समस्त स्थितियाँ सयोगरूप हैं। केवल एकत्वमे अकेले द्रव्यमें ससार नही बनता। यह दृश्य भी नही बनता है सो ऐसे सयोगवाली अवस्थामे भी समझदार पुरुष भ्रममे नही पडते हैं। अपनेको भी वहाँ प्रत्येक द्रव्यमे उन उनके परिणमनोको समझना है। जैसे उस अधे और लगडेके प्रसगमे अधेको दृष्टिहीन और लगडेको दृष्टि वाला विवेकी पुरुष जानता है इसी प्रकार इस अवस्थामे भी यह ज्ञानी पुरुष शरीरको चैतन्यरहित और आत्माको चैतन्यस्वरूप समझता है। वह शरीरमे आत्माकी कल्पना नहीं करता है। यह दृष्टान्त ज्ञानी और अज्ञानीके विवेकको समझानेके लिए कहा गया है।

अन्ध-पगुके दृष्टान्तका अन्य विषय— इस दृष्टान्तका प्रयोग सम्यक्त्व और चारित्रकी एकताकी सफलता प्रदर्शित करनेके लिये भी बताया गया है राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमे। जैसे अधे और लगडे ये दोनो अलग अलग रहे तो न अधा चल सकता है और न लगडा चल सकता है। ये दोनो मिल जाय तो काम बन जाता है।

जलते हुए जंगलमें अंधा और लंगडा ये दोनों फँस गए हों और वे जुदे-जुदे रहें तो वे दोनों ही मर जायेंगे। यदि वे मित्रता करलें लंगडा अंधेके कंधेपर बैठकर दिशा बताये और वह अंधा चलता जाय तो दोनों बच जाते हैं, इसी तरह ज्ञान और चारित्र ये अलग-अलग पड़े रहें, कोई पुरुष ज्ञान ज्ञान ही कहता रहे, चारित्र न पाले और कोई पुरुष मात्र बाह्य चारित्र ही चारित्र पालता रहे, छुवाछूत, नहाना धोना, दया, सेवा सब कुछ तपस्यायें भी करता रहे किन्तु वस्तुस्वरूपका ज्ञान न करे तो इसमें उन दोनोंकी सिद्धि नहीं है। जैसे अंधे लंगडे मिल जाय तो सिद्धि होती है ऐसे ही ज्ञान और चरित्र एक जगह मिल जायें अर्थात् पुरुष ज्ञानी बने और चारित्रवान बने तो उसे मोक्षमार्गमें सफलता मिलेगी। कितना सुन्दर दृष्टान्त है एक रत्नत्रयकी एकताको बतानेके लिये, किन्तु उस दृष्टान्तका यहाँ प्रयोग तीसरे चौथे पुरुषोंकी दृष्टि बतानेके लिये किया गया है।

अज्ञानी और ज्ञानीकी मूल समझ – अपरिचित मूर्ख जन लंगडेकी दृष्टिको अंधेमें जोड देते हैं और विवेकी जन लंगडेकी दृष्टिको लंगडेमें ही समझते हैं, ऐसे ही मोहीजन आत्माकी कलाको ज्ञानदर्शनको जानने देखनेको शरीरमें जोड़ते फिरते हैं, आत्माकी तो उन्हें कुछ खबर ही नहीं है कि कोई विविक्त चैतन्यतत्त्व है किन्तु ज्ञानी जीव सभी स्थितियोंमें आत्माकी दृष्टिको आत्मामें जोडते हैं, शरीरमें नहीं जोडते हैं। इस तरह यहां तक भ्रांतिकी और भ्रांतिरहित स्थितियोंकी बात कही गयी है स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे अब यह बतलायेंगे कि बहिरात्मा पुरुषको कौनसी अवस्थाएँ तो भ्रम रूप लगती हैं और ज्ञानी पुरुषको कौनसी स्थितियां भ्रमरूप लगती हैं।

●

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनां।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिन.॥ ६३॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शीके भ्रमपरिज्ञानका विषय—जो आत्मदर्शी नहीं हैं, अनात्मतत्त्वमें जो यह मैं आत्मा हूँ ऐसा ही जिन्हें परिचय है उनके लिये तो सोते हुए और पागलों जैसी अवस्था ही भ्रमरूप मालूम पडती है, किन्तु जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, जिन्होंने आत्मानुभव कर लिया है ऐसे ज्ञानी पुरुषोंको इन बहिरात्माके मोहसे भरे हुए दोषोंमें भरे हुए जीवकी सारी ही अवस्थाएँ भ्रमरूप मालूम होती हैं, अज्ञानी जन तो सोते हुएको देखकर यों कहेंगे कि यह बेहोश है या किसी पागल दिमाग वालेको देखकर यह कहेंगे कि यह बेहोश है, किन्तु ज्ञानी यहां जगते हुएको भी यह कहेगा कि यह बेहोश है।

भ्रमपरिचय-- लोग अपने काल्पित स्वार्थकी पूर्तिके लिये कितने मायाचार करते हैं कितना पागलपन कितना अन्याय करते हैं, कितना धोखा देते हैं। विश्वास-

घात करते हैं, और ऐसा करते हुए वे अपनेको वडा चतुर समझते हैं, मैंने वडी चतुराई की जो मैंने इतना दूसरेका लूट लिया। इसे वह चतुराई समझता है और ऐसा जानता है कि मुझ जैसा होशियार, सावधान, होशवाला दूसरा कोई नही है, हर ज्ञानी पुरुष उसे बेहोश देख रहा है। यो देख रहा है कि इस मूढ पुरुषको अपने आपका कुछ होश नही है। इस बेहोशीमे ही यह अपनी चतुराई खेल रहा है। मूर्ख पुरुष तो केवल सोते हुएमे ही बेहोशी देखते है या कुछ दिमाग जिसे कहते हैं क्रेक हो गया पागल होगया उसे बेहोश कहते है किन्तु इस ज्ञानीको तो ससारकी सर्व अवस्थाएँ ही बेहोशरूप दीखती हैं। व्यामोही प्राणी वडा श्रम कर रहा है, व्यायाम कर रहा है, वडी ताकत लगा रहा है, कुटुम्बियोके बीचमे अपनी वडी कीर्ति वर्त रहा है और यो करके मानता है कि मैं वडा चतुर हूँ। अरे चतुर तो वह है जो आत्माको समझनेका काम करले।

चतुराईमे ठगाई—भैया! इन वाहरी पदार्थोको अधिक जोड लिया तो इतनेसे इसका कौनसा पूरा पडता है? जो अन्याय करता है वह पुरुष भले ही यह समझे कि हम इतने लाभका काम कर रहे है किन्तु उससे जो पापका वध होता है, अशुभ परिणाम वनता है उसका उदय आनेपर भविष्यमे वह खतरेमें पडेगा, दुर्गतिको प्राप्त होगा। दो प्रकारके पुरुष होते हैं— एक ठगनेवाले और एक ठगे जानेवाले। नुकसानमे कौन रहा? जरा इसका निर्णय करो। ठगनेवाला नुकसानमे रहा या जो ठगा गया वह नुकसानमे रहा? लोग तो यो कहेगे कि जो ठगा गया वह नुकसानमे रहा, इतना उसका पैसा कम हो गया और जिसने ठगा है वह लाभमे रहा, किन्तु बात है विल्कुल उल्टी। ठगनेवाला नुकसानमे है और जो ठगा गया है वह नुकसान मे नही है। उस ठगनेवालेने ठगकर कौनसा लाभ पाया? उसे तो वह लाभ मिलता ही, अच्छे परिणामोसे रहता तो वह मिलता, ठगनेका काम किया तो भी मिला। जो उसकी कलुषताएँ हुई, जो आशयमे मलिनता हुई, पाप वध हुआ विकार वढा उसके कारण वर्तमानमे भी उसकी वुद्धि विगड जानेसे किसी प्रकारके नुकसानमे वह आगया और न आ सका मान लो निकट भविष्यमे नुकसानमे तो वादमे नुकसानमे आये विना वचता नही है।

परिणामका परिणाम— कोई पुरुष गुप्त पाप कर रहा हो, उसके किए जाने वाले पाप कार्योंको कोई जान नही रहा है लेकिन वादमे वह याद रखता है कि मैंने इतना समय अपने जीवनका व्यर्थ ही विताया और इस कारण यह फल भोगना पडा। वेकार नही जाता है अच्छा परिणाम करना और बुरा परिणाम करना। चाहे फल देरमें मिले पर अच्छे और बुरे दोनो परिणामोका फल अवश्य मिलता है।

देर है अन्धेर नही—एक पुरुष पुत्र रहित था लोगोने उसे कुछ भरमा दिया कि तुम किसी दूसरे लडकेकी अमुक देवी पर वलि चढा दो तो पुत्र हो जावेगा। उसने ऐसा ही किया और पूर्वकृत भाग्यकी वात है कि उसके सतान भी हुआ, धन भी वढा, जमीदारी हो गयी, सव कुछ हो गया, लेकिन कुछ ही समय वाद

क्रमश वह सव कुछ मिटने लगा। जमीदारी भी मिटी, महल भी सव विक गये, और और भी सव कुछ बिक गया, स्त्री तक भी गुजर गयी अकेला रह गया, उसका दिमाग अव भ्रान्त हो गया तो वह जगह-जगह चिल्लाता फिरे देर है अधेर नही लोग पागल समझकर उपेक्षा कर जाय, किन्तु एक जजने यह सोचा कि यह एक ही बात कहता है पागल तो नही मालूम होता। कोई बात है। उसने उसे कुछ दिन अपने घर रक्खा और धीरेसे पूछा तो उसने सव वृत्तान्त सुनाया जो पाप किया उसके फलमे देर तो है किन्तु अधेर नही है कि उसका फल प्राप्त न हो। यो ही जानो कि जो लोग दूसरोपर अन्याय करते है फलमे उन्हे क्लेश ही मिलता है। भैया, चतुराई पाई कोई कला पाई चला पाया और उसके मदमे आकर दूसरोपर अन्याय किया मायाचार किया, धोखा दिया, विश्वासघात किया तो इन परिणामोके फलमे चाहे देर हो जाय पर अधेर नही है।

अज्ञान चेष्टाका प्रत्यय – कोई पुरुष अपयशके काम करे किन्तु करे गुप्त ही गुप्त, तो करता रहे गुप्त ही गुप्त पर उसके ऐसे कर्मोका उदय अवश्य आयगा कि अपयश होता ही रहेगा। कोई मनुष्य यशका काम करता है, करता है वह गुप्त होकर भले ही वह गुप्त ही गुप्त यशका काम करे, न प्रकट होने दे अपने गुण, किन्तु ऐसा समय अवश्य आयगा कि उसका यश प्रकट होगा। तो ज्ञानी पुरुषको ये शरीर अवस्थाएँ सव भ्रमरूप मालूम होती है। औरकी तो वात क्या, ज्ञानी पुरुष धर्मके सव काम कर रहा है, पूजामे खडा हुआ पूजा कर रहा है, अव जापमे बैठा है, सामायिक कर रहा है, सव कुछ करता है पर चित्तमे यह वात वसी हुई है कि यह सव हम अज्ञानमे कर रहे हैं। ये मेरी सारी क्रियाएँ अज्ञानमय क्रियाएँ है। उसे सम्यक्त्व जगा है तो सम्यक्त्व जगनेपर ही तो यो सोच रहा है वह कि ये क्रियाएँ क्या ज्ञानतत्त्वकी क्रियाएँ है, ये करनी पडती हैं। विषय कषायोका उपद्रव है, कल्पनावोका यत्र तत्र लगनेका उपद्रव है, उनसे कुछ निकास पानेके लिए ये सव क्रियाएँ की तो जा रही है, पर ये अज्ञान चेष्टाएँ हो रही है।

ज्ञानचेष्टा – भैया! ज्ञानभरी चेष्टाएँ तो वे है जो सव ज्ञानियोके होती हो और ज्ञानियोमे जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी है सिद्धभगवान, अरहतदेव उनकी भी जो चेष्टाएँ होती हो वे हैं ज्ञानमय चेष्टाएँ। ये सब उन्मत्त चेष्टाएँ है, कषायोकी जितनी भी क्रियाएँ हैं ये सव उन्माद है। यो ज्ञानीको सारी अवस्थाएँ भ्रमरूप ही दीख रही है, तभी तो धर्म कार्य करते हुए भी ज्ञानी कर तो रहा है हाथ पैरसे ये धर्म विषयक क्रियाएँ, किन्तु चित्त है उसका एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, मै इन क्रियावोवाला नही हूँ। उसे ये सारी स्थितिया भ्रमरूप दीखती है। आप सुन रहे है यह भी क्या उन्मत्त चेष्टा नही है? यह भी पागलोकी चेष्टा है। हम वोल रहे है यह भी उन्मत्त चेष्टा है, क्या यह सुनते रहना आत्माका धर्म है। आत्माका धर्म शुद्ध ज्ञानका अनुभव करते रहना है। जहाँ कोई विकल्प नही, भेद नही वह ज्ञानप्रकाश ही आत्माका धर्म है।

क्या इस सुननेमे ज्ञानका अनुभव हो रहा है ? भले ही कुछ यह मनमे निर्विकल्प तत्त्व की ओर झाक रहा हं, पर अनुभव तो नही है। ऐसा ही बोलनेमे पदवर्ण सहित वोले जानेमे क्या ज्ञानका अनुभव है ? भले ही वोलते समय यह मन उस निर्विकल्प ज्ञानतत्त्वकी ओर झाक रहा हो, पर ज्ञानका अनुभव तो नही है। जहाँ ज्ञानका अनुभव नही है वे समस्त क्रियाएँ उन्मत्त चेष्टाएँ कही गयी हैं।

मोहकी घातकता मोह केवल दर्शनका घातक ही नही होता है, चारित्रका भी घातक होता है अर्थात् दर्शनको भी घातता है और चारित्रको भी घातता है जब तक दर्शन और चारित्रका विघात है तब तक यह जीव निर्दोप नही है। अपनेको सदा ऐसा मानते तो रहना चाहिये कि मैं घरमे रहता हूँ तो दूकान करता हूँ, या घर वालोसे वडी न्याय नीतिमे वोलता हूँ तो या समाजमे वडी सुन्दर चाल चलनसे रहता हूँ तो औरकी तो कहानी ही क्या कहे, हम अपने लिये काय क्लेश, पूजन, सामायिक, भक्ति सेवा सुश्रूषा जितनी भी तन, मन, वचनकी चेष्टाएँ करते हैं वे सव हमारी उन्मत्त चेष्टाएँ हैं, यथार्थ काम नही हैं, लेकिन वडे अयथार्थ ज्ञानसे वचनेके लिए कम अयथार्थ काम किया जाय तो भी लोग भला समझते हैं।

आन्तरिक रुचि जैसे किसी अपराधमे किसी व्यापारीको एक हजार रुपया दड किया गया हो तो व्यापारी यह कोशिश करता है कि मेरा दण्ड कम हो जाय, और किन्ही कोशिशके वाद हजारकी जगहपर ५० ही रुपया दड रह गया तो वह कुछ चैन मानता है, खुश होता है, पर उसको भीतरसे पूछो क्या वह ५० रुपये भी देनेकी रुचि रखता है ? अरे वह ५० रुपये भी नही देना चाहता, किन्तु उस हजारके नुकशानसे वचा है, उसके मुकावलेमे इसे अच्छा मानता है। सी तरह अव्रत आदिक अशुभ भावोकी अपेक्षा व्रत आदिक शुभ भावोको भला मानता है, पर वस्तुत इन दोनो भावो मे यह ज्ञानी पुरुप रुचि नही रखता है। वह तो शुद्ध ज्ञानके अनुभवमे ही प्रसन्न रहा करता है।

आत्मदर्शियोके भ्रान्त दशाओका अभाव—जो आत्मदर्शी पुरुप है उनको सोई हुई अथवा पागलो जैसी अवस्थाएँ भी भ्रमरूप नही होती हैं, याने आत्मदर्शी पुरुप ऐसे आत्मज्ञानका अभ्यासी है कि उसका चित्त आत्मरससे भीगा रहता है और वह अपनी स्वरूपप्रतीतिसे कभी च्युत नही होता है। कदाचित् इन्द्रियोकी शिथिलता आ जाय या रोग आदिकी वजहसे कभी मूर्छा आ जाय तो भी उसका आत्मसस्कार नही छूटता है। जैसे मरणके समयमे यदि वोल थक जाय या वेहोशी हो जाय तो वहाँ मरण विगड जाता है क्या ? मरणका विगडना सस्कारसे सम्वध रखता है। यदि कोई ज्ञानी पुरुप है, तत्त्वज्ञानका दृढतर अभ्यासी है, जिसने आत्मस्वरूपका वार वार अवलोकन किया है, ज्ञान और वैराग्य जिसका प्रवल है उस पुरुपके कभी रोगमे वेहोशी हो जाय तो अन्तरमे ज्ञानधारा ही चलती है। वेहोशी हो गयी तो लोगोको अव दिखता नही है कि यह कार्य कर रहा है, न हाथ चलाता है न आँख चलाता न

यह अपनेको अनुभवता है वह सब भ्रमरूप है। कोई ऐसा सोच रहा हो कि मैं इतने वैभवका धनी हूँ, इतने मकान हैं, ऐसा लेन देन है, देखा ठीक हिसाब है कि नही, गल्ती निकाल दी, यह रोकड नही मिली इसमे २ पैसेका फर्क है अच्छा फिर देख डालेगे। हाँ हुई न वडी चतुराई, हुआ न वडा होश कि अच्छा हिसाब कर लिया, अच्छी व्यवस्था बनाली। अरे नही अज्ञानदशामे ये सब जिन्हे यह होश कहता है वह सब भ्रम है एक परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्वके दर्शनमे भ्रम नहीं है। उसके लिये सारी अवस्थावोमे कोई भ्रम नही होता है। अब ज्ञानदृष्टिहीन शास्त्रवेदियोकी वात देखिये, लोकमे कुछ लोग ऐसा विवेक किया करते हैं कि जिसने अधिक पढ लिया वह ज्ञानी पुरुष है जिसको वहु सी भाषामे याद हैं, जो नीतिका धर्मशास्त्रका वडा व्याख्यान देता है, वह ज्ञानी पुरुष है, वह तो मुक्त हो जायगा। ऐसी लोगोकी धारणा बनी रहती है। उनके सम्बन्धमे समाधान देते हुये पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥ ९४ ॥

अज्ञानीका जागरण भी अश्रेयस्कर जिसने सब शास्त्रोको जान लिया हो ऐसा भी पुरुष यदि शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला है, इस शरीरको लक्ष्यमे रखकर कि यह ही मैं हूँ ऐसा जिसका विश्वास बना हो वह आँखोसे जागता हुआ भी हो और लोक व्यवस्थामे वडी सावधानी बनाये रखता हो अथवा कुछ धर्मके नामपर व्यवहार भी धार्मिक करता हो, किन्तु जिसकी भूलमें ही भूल है, अर्थात् जिसने शरीरको ही आत्मा माना है वह जगता हुआ भी मुक्त नही होता।

भावहीन वचनोसे अलाभ—कोई पढी लिखी वेश्या हो और वह व्याख्यान दे सदाचारका, शीलका, ब्रह्मचर्यका तो क्या दे नही सकती है, किन्तु अतरगमें तो उसके कुछ असर है नही। कोई व्यसनी पुरुष, स्त्रीगामी पुरुष ब्रह्मचर्यका व्याख्यान दे तो क्या बढिया व्याख्यान दे नही सकता है? दे सकता है किन्तु अतरगमे उसके कुछ उतरा नही, तो लोकज्ञान भाषाज्ञान ये सब अल्प चीजें हैं और अन्तरमे विश्वास होना आत्महितकी लिप्सा होना यह अलग वात है। अज्ञानी पुरुष वही कहलाता है, जिसको शुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभव नही होता है। जिसको पर पदार्थोसे उदासीनता नही आयी है, जो निजको निज परको पर नही जान सकता है ऐसा अज्ञानी पुरुष लोकभाषाके नामसे ज्ञानी भी हो जाय तो भी वह मोक्षका मार्ग नही पा सकता है।

अन्तरात्माका सवरभाव—भैया! ज्ञानी पुरुष जिसने आत्मस्वरूपको देहसे न्यारा अनुभव कर लिया है ऐसा अन्तरात्मा पुरुष सोया हुआ भी हो तो भी इसके ४१ प्रकृतियोका सम्वर बना रहता है। चौथे गुणस्थानवाले जीव भी ४१ प्रकृतियो

का सम्बर किए हुए है। व्रत न हो सोया हुआ हो, किन्ही भोगोमे भी लग रहा हो तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष ४१ प्रकृतियोका सम्बर बनाए रहता है। तो उन ४१ से तो छूटा हुआ ही है ना, जिसका वध नही हो रहा है। तो ज्ञानी पुरुप सोया हुआ भी मुक्त है, किन्तु सर्व शास्त्रोको भी कोई जान ले और हर काममे बडा जागरूक रहे, सावधान रहे लोकव्यवहारकी क्रियावोमे अवसर पर क्या करना चाहिए इसमे भी बडा चतुर रहे तो भी जिसे भेदविज्ञान नही है, जिसको देहसे भिन्न आत्माको परखनेकी रुचि नहीं है उसे मुक्ति नही प्राप्त हो सकती है। भैया ! छूटना जिसको है उसके प्रति यह विश्वास ही न हो कि यह छूटे हुए स्वभाववाला है तो छूटनेका मार्ग कैसे प्राप्त कर सकता है।

तोता रटत – जो पर्यायबुद्धिवाले जीव है, देहमे आत्माका विश्वास करने वाले है उनका शास्त्रज्ञान तोतेके रटनेकी तरह है। जैसे पिजडेमे पला हुआ तोता उसे जो सिखावो वही रटता रहता है। तोतेको सिखा दो कि अय तोते ! नलिनीपर नही वैठना, नलिनी पर वैठ भी जाना तो दाने चुगनेके लिए न झुकना, दाने चुगनेको झुक भी जाना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो छोडकर उड जाना। इतना सिखा दिया। है तो यह जरा लम्बा वाक्य, मगर इतना भी सीख सकता है। सीख गया। वह तोता उतने शब्द बोल लेता है। सीख गया है ना, सो दिनभरमे दस वीस वार वोलता है। अब वडा प्यारा हो गया वह तोता। मालिकको वडा विश्वास हो गया। जब विश्वास अधिक हो जाता है तो पिंजडेका दरवाजा वद किया न किया, ज्यादा ध्यान नही रखा जाता। तो एक वार पिंजडेका दरवाजा खोलकर चला गया, मौका पाकर तोता उड गया, और उडकर वह वही पहुचा जहाँ पर नलिनी लटक रही थी।

करतूतका फल —देखो भैया, तोता उस नलिनीपर वैठ गया और वही पाठ रट रहा है—ऐ तोते ! नलिलीपर नही वैठना, वैठ भी जाना तो दाने न चुगना, दाने चुगना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो छोडकर उड जाना। इतना पाठ वह पढता जा रहा है। दानेकी ओर भी वह झुक गया, नलिनीपर भी औंधा लटक गया। अब औंधा लटकनेके वाद तोतेको यह डर है कि कही छोड देनेसे हम गिरकर न मर जाये सो उसे अपनी उडनेकी कलापर विश्वास ही उस समय नही रहता कि इसे छोड दें तो उडकर भाग सकते है। लटक गया औंधा, पाठ पड रहा है उतना ही और डर रहा है, शिकारी आया और उसने तोतेको पकड लिया।

भावभीना स्तवन—भैया, तोता रटत विद्यासे कही विपदा छूट नही सकती है। हमारी यह पूजा, वीनती, पाठ आदि तोता तरटसे हो गए है। वीनती गुरूसे पढते है, पता ही नही पडता कि कव क्या पडा और कितनी देरमे खतम हो गया। कभी भाव भी लगा लें, पर जिसके धर्मकी रुचि नही है और ईमानदारीके साथ प्रभु-भक्तिमे नही आया है, लोकरीतिसे अथवा घरकी खुशियालीके लिये आया है, उसकी

वह प्रभुभक्ति तो नही कहलायी ! अरे उससे तो अच्छा है कि तुम अपनी बोल-चालमे भगवानके गुण गावो । किसीके बनाए हुए भजनका सहारा लेकर जरा अपनी बोल-चालमे बोल लो । भगवान तुम अनन्तज्ञानी हो, निर्दोष हो, इस शरीरकी आफतसे भी छूट गए हो, हम कैसी आफतमे पडे हैं । हमपर मोह लगा है तुम्हारे मोह नही है, जो मनमे आए सो अपनी बोलचालमे भगवानसे बोललो । ऐसा बोलनेमें तुम्हारा दिल मदद देगा । जो मनमे होगा सो कहोगे । वह हार्दिक स्तुति है । जो पद्यमय वीनती है पूजा है, जैसी रोज रोज कहते रहे वैसे ही आज भी रटी हुयी कहते जाते हैं, मोहमे चित्त रहता है सो क्या कहा, पता भी नही पडता । इसके मायने यह नही है कि उन स्तुतियोको न पढे न पढें तो करें क्या ? उनको पढकर भी किसी दिन मन लगता है पर इन रचनावोके पढनेमे आध घटा समय लगते हो तो एक मिनट भी अपनी बोल-चालमे भगवानसे बोल लो । यह काम रोज-रोजका रख लो तो उसकी अपेक्षा इसका प्रभाव विशेष बनेगा ।

भावभासीकी विशद वृत्ति— जैसे तोते ने रट लिया, पर भावभासना नही हुई । मैं क्या कह रहा हूँ, इसका क्या भाव है, क्या मतलब है यह उस तोतेको जैसे नही मालूम है ऐसे ही शास्त्र ज्ञान कर लेनेपर भी भावभासना यदि नही आती है तो उससे आत्महितकी साधना नही होती है । आज आपने कोई नया नौकर रखा हो, उससे कह दिया कि वहाँ जाना है यो कहकर आवो । अब उसे कुछ पता नही है घट-नावोका कि क्या मामला है, इससे मालिकका क्या सम्बन्ध है, उसे तो जितनी बात कह दी उतनी ही बात पकड ली और उससे कहनेके लिये पहुँच गया । उसे भावभासना नही है कि मामला क्या है । और एक पुराना कोई नौकर हो उसे भावभासना है, जरासा इशारा कर दिया कि वहाँ चले जावो, यह बात कह आवो । लो थोडेसे ही वह सारी बात समझ गया । अब कोई प्रश्न भी वहाँ करेगा तो वह उत्तर दे करके आयगा । भावभासना और ऊपरी ज्ञान इन दोनोमे बडा अन्तर होता है । तो उस तोतेको वह सब रटते हुए भी भावभासना नही है ऐसे ही जिस शास्त्रज्ञानी विद्वान पडितको भावभासना नही है वह बोलकर भी आत्महितका साधन नही कर सकता ।

भावरहितकी विपरीत वृत्ति - भैया ! अक्षरविज्ञोका भावभासना तो रहो, ऐसा शास्त्रज्ञानी पुरुष बोलनेके बाद जब मित्रोमे बैठा है तो अपने मुहसे खुलासा कहता है कि वह तो शास्त्रकी बात थी, वहाँ तो व्याख्यानमे यो कहना पडता है । रात्रिके समय उनका व्याख्यान रख दीजिए कह दीजिए कि रात्रि भोजन त्यागपर बोलना है रात्रि भोजन त्यागपर खूब बढिया बोल देगे । इससे स्वास्थ्यपर नुकशान है, धर्मका नुकशान है, परेशानी है सब बोल देगे । शास्त्र समाप्त हुआ कि थोडी ही देरमे पेडा ले आइए, दूध ले आइए । अरे अब क्या हो गया । अरे वह तो एक ज्ञान था, उसकी कला दिखा दी है कि लोग सुनकर दहल जाये कि रात्रिभोजन बुरी चीज है ।

भावरहितकी विपरीत वृत्तिपर एक दृष्टान्त— इसपर एक कथानक भी

प्रसिद्ध है--कहते हैं ना कि भाई जीके भटा । एक भाई जी थे एक दिन उनका शास्त्र हुआ । तो शास्त्रमे भटा अभक्ष्य है इस विषयपर बोला । क्या दोष हैं इसमे ऐसी पर्त होती है कि दो दो अगुलके टुकडे भी कर दो तो भी कीडा किसी जगह छुपा रह सकता है । भटेमे सबसे बडा ऐब यह है, और भी दोष बताया, और कहा कि इसे न खाना चाहिए । इस भटेका तो जिन्दगीभरके लिए त्याग करना चाहिये । उस व्याख्यानको उन भाई सहाबकी स्त्री भी सुन रही थी । सो उसने सोचा कि जल्दी घर पहुचे, उन भटोको फेक दें नही तो भाई जी आयेंगे तो नाराज होगे क्योंकि इन्होने आज भटा त्यागकी बात कही है । वह झट घर पहुची और उन भटोको उठाकर नालीमे डाल दिया । भाई जी आये तो स्त्रीने सब खाना तो परोसा, पर भटा न परोसा । तो भाई जी कहते है कि आज भटा नही बनाया है क्या ? स्त्री बोली कि भटा बनाया तो था पर आपका उपदेश सुना तो यहा आकर भटोको उस नालीमे फेंक दिया । तो भाई साहब बोले अरे वह तो दूसरोंके लिए बोला था, अपने लिए थोडे ही बोला था, जा ऊपर-ऊपरके भटे उठा ला । तो शास्त्रज्ञानसे कर्ममुक्ति नही होती है । भावभासना हो तो मुक्ति होती है । यो यह अज्ञानी पुरुष बडे बडे शास्त्रोका ज्ञान रखता हो बडा सावधान रहता हो लेकिन तत्त्वभासना नही होनेसे कर्मोसे वह मुक्त नही होता है ।

●

यत्रैवाहितधी पुस श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्त तत्रैव लीयते ।। ९५ ।।

चित्तकी लीनताका स्थान – जिस किसी भी विषयमे पुरुषकी बुद्धि लग जाती है उस ही विषयमे उसको श्रद्धा हुआ करती है और जिस ही विषयमे उसे श्रद्धा हो, रुचि हो उस ही विषयमे मन लीन हो जाता है । जिस किसीको यह आवश्यक हो कि मेरा मन आत्मस्वरूपके ध्यानमे लीन हो तो उसे आवश्यक है कि पहिले आत्म-स्वरूपमे उपादेयताके रूपमे श्रद्धान हो । इस आत्मस्वरूपमे उपादेयताके रूपमे श्रद्धान हो, इसके लिये आवश्यक है कि उस आत्मस्वरूपकी ओर ही अपनी बुद्धि लगाते रहें, जिस ओर बुद्धि लगाते रहेगे उस ओर ही श्रद्धा बनेगी उसमे ही चित्त लीन होगा ।

ज्ञानीकी चित्तवृत्ति—ज्ञानी पुरुष अपने जीवनभर इस ज्ञानसाधनामे ही उपयोग लगाये रहता है तो उसका चित्त उस ओर ही लीन होता है उस ज्ञानी पुरुष को निद्रा भी आये तो निद्रामे भी पहिले जिस ओर उसका चित्त लगा है उसकी वह बात स्वप्नमे देखता है । सोती हुई अवस्थामे भी वही काम करेगा, जैसे कामका इस मनसे पहिले सस्कार बनाया था । ऐसे ही कदाचित् कोई बेहोशी हो जाय जिसमे पुरुष बडबडाने लगते हैं, बकवाद करते है, तो जिस ओर पहिले चित्त लगा हुआ होगा बकवादमे भी वही बात निकलेगी । कभी कोई विद्वान पुरुष पागल बन जाय तो वह पागलपनमे भी विद्या वाली बात बकता रहेगा । यहा चित्तकी लीनता

की उपपत्ति बतायी है कि चित्त कैसे कहाँ लीन होता है। इस श्लोकसे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हम परमार्थतत्त्वकी ओर अपनी बुद्धि लगाया करें ज्ञान करें तो वस्तुस्वरूप की चर्चा करें तो वस्तुस्वरूपकी, रुचि बनाएँ तो वस्तुस्वरूपकी अर्थात् स्वय यह आत्मा सहज जिस रूपका है उस हीमे दृष्टि दें, ऐसा अभ्यास बना रहेगा तो उसकी ही रुचि बढती जायगी, उसकी ही श्रद्धा होती जायगी और फिर वह चित्त वहाँ ही लीन रहा करेगा।

चित्त न लगानेका यत्न—जहा चित्त अपना न लगाना हो उसका भी यह ही उपाय है कि उस जातिकी श्रद्धा न बन सके इसका उपाय है कि उस कुतत्त्वके ढिग न जाये, वहा बुद्धि न लगाये। यदि विषयोमे अपना मन नही लगाना है तो यह श्रद्धा होना आवश्यक है कि ये विषय दु खदायी हैं, असार है विनाशीक हैं, इनसे कोई लाभ नही है इनसे केवल जीवकी बरबादी है। तो उसकी असारताविषयक श्रद्धा होनी चाहिए। भोगोकी असारताकी श्रद्धा तब हो सकती है जब यथार्थज्ञानमे हम अपना चित्त लगायें। जिस विषयमे किसी मनुष्यकी बुद्धि लग जाती है अर्थात् जहा खूब सावधानीसे बुद्धि प्रवर्तती है उसीमें आशक्ति बढती जाती है और उसमे ही श्रद्धा उत्पन्न होती जाती है। किसी भी अन्य व्यक्तिमे स्नेहभरी बात छेडना यह भविष्य कालमे बडे सकटकी बात बन जाती है क्योंकि स्नेहभरी बातका उत्तर भी स्नेहमे मिला तो अब चित्त वहा ही लगने लगा। जब चित्त वहा लग गया तो श्रद्धा भी उसीकी हुई और जिसमे श्रद्धा हो वहा ही चित्त लीन हो जाता है।

ज्ञानीके सुषुप्तिमे भी मोक्षमार्ग—इससे पूर्वके श्लोकमे यह बताया गया गया था कि ज्ञानी पुरुष सोया हुआ भी सम्बरवाली प्रकृतियोंसे मुक्त है अथवा विभ्रम के साधनोंसे मुक्त है। ज्ञानी पुरुष कभी रोगवश बेहोश भी हो जाय तो उस बेहोशी की हालतमे भी वह कर्मोसे मुक्त होता है। ऐसा क्यो होता है? उसके समाधानमे यह श्लोक कहा जा रहा है। चू कि उसने अपने जीवनभर तत्त्वज्ञानमे ही बुद्धि लगाई और इस ही कारण उसे तत्त्वविषयक श्रद्धा हुई आत्मस्वरूप विषयक श्रद्धा हुई अतएव चित्त वहा ही लगा रहता था। तो अब सोई हुई हालतमें भी वही चित्त रहता है, लेकिन जिसने कितनी ही बार आत्माका अनुभव किया हो तो सोई हुई हालतमे भी स्वप्न जैसी स्थितिमे भी सही आत्मानुभवकी बात की जाती है। जो बात जगतेमें की जा सकती है वे सब बातें स्वप्नमे भी की जा सकती है। फर्क इतना है कि स्वप्नमे केवल भाव ही भाव हैं, बाहरी काम नही हैं, लेकिन आत्मानुभव जैसी चीज तो जगतेमें भी बाहरका काम नही है तब जो सोतेमें आनन्द पाया और जो जगतेमें आनन्द पाया वह एक समान हुआ।

हितकारी अर्जन—ज्ञानका अर्जन बहुत बडा काम है, यह जगेमे भी आनन्द दे, सोयेमे भी आनन्द दे। और यह विषयसाधनोंके सचयका काम तो अनेथकारी है, विषयोंके साधन जोडनेकी अथवा धनसचयकी जो इच्छा होती है उससे पहिले भी

इसमे आकुलता मची थी। जब धन सचय कर रहा है तब भी आकुलता मच रही है धन आ गया तो उसकी रक्षा करनेकी आकुलता मच रही है, और कदाचित् धन नष्ट हो जाय तो उसके विनाशपर भी आकुलता मचती है और वह पुरुष सो भी जाय तो स्वप्न भी ऐसा बुरा आता है कि इसे आकुलता मचती है।

स्वप्नका भुगतान — एक देहाती व्यापारी किसी समय सो या हुआ था उसे स्वप्न आया कि मैं एक शहरके बाजारमे पहुच गया, देखा कि एक रुपयेकी मन भर ज्वार बिक रही है और उसके गावमे २) की मन भर ज्वार बिकती थी। सोचा कि १ रु० की मन भर ज्वार खरीदले सो गांवमे ले जाकर बेच देनेपर १ रु० भी मिल जायगा और २० सेर ज्वार खानेको हो जायगी। सो स्वप्नमे उसने १ मन ज्वार खरीद ली। अब एक मन ज्वारका बोझ अपने सिरपर लादकर वह चला। स्वप्नकी बात कही जा रही है। स्वप्नमे ही चलते चलते उसकी गर्दन दुखने लग गयी, अब बडा कष्ट हो रहा है सो उसने आधी ज्वार निकालकर फेक दी पर जो एक बार दर्द हो जाता है वह दर्द फिर थोडा भी बोझ हो तो भी बढता जाता है। अब भी उसकी गर्दनका दुखना बद न हुआ, तो उसने और भी ज्वार फेक दी। सेर दो सेर ही ज्वार का बोझ सिरपर रह गया लेकिन गर्दनका दुखना बद न हुआ। धीरे धीरे उसने सारी ज्वार फेक दी फिर भी गर्दनका दुखना न मिटा अब तो उसकी नीद खुल गयी, नीद खुलनेपर भी गर्दन दुख रही थी सोचा कि अभी कोई ज्वारका दाना तो सिरमे नही अटका है। तो जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा सस्कार बनता है और उस सस्कार के माफिक चित्त उसी जगह लीन रहता है।

स्वप्नकी कसोटी—स्वप्न एक बडी ईमानदार कसोटी है। कैसा इसका भाव बना रहता है रात दिन, उसकी परख स्वप्न करा देता है। स्वप्न खोटी बातका देखे, खोट आचरणका देखे तो उस जातिका उसका सस्कार बना है इसका परिचायक है। कोई स्वप्न ऐसा भी आ जाता कि जिसके माफिक कुछ भाव बनाया था ऐसा भी न विदित हो और स्वप्न आ जाता। तो समझिये उस जातिकी भी कोई वासना बनी रही है, क्योकि सस्कार वैसे हुए बिना वैसा स्वप्न ही न आयगा। इस ज्ञानी पुरुष को आत्मबोधका बडा सस्कार होता है, इसने सोई हुई अवस्थामे भी यह सावधान है, होशवाला है।

बेहोशीमे होश — ज्ञानी सत बेहोशकी अवस्थामे भी होशवाला है, सावधान है। कैसा अदभुत कार्य है सस्कारका कि ज्ञानी पुरुष रोगवश बेहोश पडा हो अथवा मरनेके समय उसकी सारी इन्द्रियाँ बेहोश हो गयी हो, शिथिल हो गयी हो, उल्टी सांस ली जा रही हो, मरनेका समय निकट आ रहा हो तो लोगोको यो दीख रहा है कि यह बडा बेहोश है, कई दिनमे इसे होश नही है, लेकिन ज्ञानीका सस्कार ऐसा बना है कि कई दिनकी बेहोशीमे भी उसके निरन्तर अन्तरङ्गमे ज्ञानप्रकाश बना रहता है। जिस ओर बुद्धि लगी हो उस ओर ही प्रीति और रुचि होती है जहाँ रुचि होती

हो, वैसा ही चित्त बना रहता है। ज्ञानी पुरुषका चित्त ज्ञानकी ओर रहा आये तो उसकी यह लीनता सोई हुई और वेहोशी जैसी अवस्थामें विषयोंकी ओर नही आने देती और आत्मस्वरूपकी ओर प्रवृत्ति रहती है। कदाचित् वह स्वप्न देखेगा तो ज्ञानके, धर्मके, भक्तिके देखेगा और कभी बकवाद करने जैसी वेहोशी हो जाय तो ज्ञान की ही बातोंका बकवाद निकालेगा।

ध्येयका निर्णय और अमल भैया! आत्महितके लिए प्रयत्नपूर्वक यह काम करें कि ज्ञानका अर्जन हो, ज्ञानकी ओर बुद्धि लगे, अच्छा परिणाम रहा करे। यह बात तभी बन सकती है जब धनकी असारता समझमे आये। गृहस्थावस्थामे आवश्यकताके लिए कुछ धनकी आवश्यकता होती है, पर इतना आवश्यक नहीं है कि अपने धर्मको भूल जायें और धन-वैभवके ही स्वप्न देखें। उन्हे बडा धोखा होगा जो धनकी रुचिमे धर्मको भूल जाये और धनकी ओर ही लगे रहें। उनकी तो दुर्गति ही होगी। उसको न वर्तमानमे चैन है न भविष्यमे चैन होगी। आवश्यक है कुछ समागम गृहस्थावस्थामे, ठीक है, जान लिया। सहज योगसे आवश्यकताकी पूर्ति प्राय मनुष्यको हो जाती है पर जीवन इसलिए समझें कि हमे धर्म करके, ज्ञानदृष्टि करके आत्माका बल बढाना है, बाहरी कुछ काम नही करना है।

व्यवहारविवेक —भैया! यदि जीती हुई हाललमे भी धन कम हो रहा है अथवा त्याग किए जा रहे है तो उसका क्या खेद करना, मरने पर तो सब छूट ही जायगा। मरनेपर सब चीजें छूट जायेंगी उसकी अपेक्षा भी क्या कुछ घाटा है जिंदगी मे यदि धन कुछ कम हो गया तो। धनको तो धूलकी तरह समझना। ये धन-वैभव सोना-चादी अपनेमे निकलकर कोई मेरे आत्मामे परिणति नही ला देते। रही यह बात कि उसके बिना काम तो नही सरता। लोकमें इज्जत, प्रतिष्ठा, यश सब कुछ धनके ही कारण तो होते हैं। यदि पुण्योदयसे अपने आप सहज आये तो आने दो, लेकिन विकल्प मचाकर श्रम करके कुछ मायामयोमे मायामय इज्जत पाई तो ऐसी इज्जतका क्या करें, इज्जतके करनेवाले भी मरेंगे। आखिर ये मोही मलिन पुरुष ही तो अपने स्वार्थके लिए इज्जत करनेकी बात कहा करते हैं। कुछ भी यहा सारतत्त्व नही है। जगतमें यदि कुछ नाम भी हो गया तो मरनेके बाद यहाका नाम क्या काम देगा? जिस भवमे गया, वहाँ जो समागम हुआ, जो साधन मिले उसके अनुसार उसका बरतावा चलेगा या पूर्वभवके लोगोके गुणगानका कुछ असर उसपर आयगा? और फिर जितना इस मायामय जगतकी ओर अपनी इच्छा बढायेगा उससे अपना बड़प्पन अपनी इज्जत चाहेगा ऐसी विभाव परिणति करनेका फल तो तत्काल उतनी ही बडी आकुलता ही है।

ज्ञानकी डोर —भैया! असार है ये सब मायामय समागम। कहाँ चित्त लगाना। श्रद्धा जिसकी निर्मल है, वह अवश्य पार होगा ससारसे। पूजामे कहते हैं ना कीजै शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरधा धरे। द्यानत सरधावान अजर अमर पद

भोगवे। श्रद्धा तो है किसीको, किन्तु श्रद्धा माफिक कुछ नही कर पा रहा है, पर दृष्टि है करने की सो वह आगे अवश्य सफल होगा। श्रद्धा तो है, आन तो है उसकी। एक सेठका लडका था, वह हो गया वेश्यागामी। सेठजीके एक मित्रने कहा सेठजी, तुम्हारा लडका तो व्यसनी हो गया है, वेश्याके यहा रोज जाता है और अब बिगड गया है, सुधर नही सकता है। सेठ बोला कि हमे विश्वास नही होता कि मेरा लडका बिगडा है। वह बोला कि हम तुम्हे वेश्याके घरमे खडा हुआ दिखा देंगे। वह ले गया सेठको वेश्याके घर उसे दिखानेके लिए। सेठने देख लिया उस लडकेको वेश्याके घरमे, उसी प्रसङ्गमे लडकेने भी अपने पिताको देख लिया, किन्तु उस लडकेने झट अपनी आँखोके आगे अगुली लगा ली, लो इतना भर काम किया। अब जब पिता भी घर आ गया और पुत्र भी कुछ देर बाद घर आ गया तो पुत्र दूसरे कमरेमे बैठ गया।

आन तक सुधार—अब वह सेठका मित्र कहता है सेठसे कि मैं कहता था ना, कि तुम्हारा लडका बिगड गया है। तो सेठ कहता है कि मेरा लडका अभी नही बिगडा। सेठकी इतनी बात सुनकर पुत्रके हृदयपर बडा असर पडा और उसने वह पाप छोड दिया। सेठके मित्रने पूछा कि सेठजी ! मैंने तुम्हारे लडकेको वेश्याके घरमे तुम्हे दिखा भी दिया फिर भी कहते हो कि मेरा लडका अभी नही बिगडा ! सेठ बोला हा ठीक है, तुमने दिखा तो दिया वेश्याके घरमे खडा हुआ, किन्तु उसने मुझे देखकर अपनी आखोके आगे अगुली लगा ली, तो आन तो है उसे हमारी। जब तकके अन्दर आन है तब तक वह सुधर सकता है, जब आन ही न रहे तो सुधरेगा ही क्या ?

श्रद्धाका एक रूपक—आन है क्या ? कोई एक श्रद्धाका ही तो रूपक है आन। आन जिसमे नही रहती फिर उसके कुछ नही रहता। कुछ लोग बीडी पीते है तो अपनेसे बडेको देखकर बीडी छुपा लेते है, छूपाकर पी लेते हैं, वे सबके सामने नही पीते है तो उनके अन्दर कुछ आन तो है। जब वे आन छोड देंगे तो फिर सबके सामने पीने लगेंगे। जो सबके सामने बीडी पीने लगे तो समझलो कि उसका बीडी पीना छूटना कठिन हो गया है, क्योकि अब उसकी आन निकल गई, अब उसका हृदय स्वच्छन्द हो गया। आन हो तब तक उसका सुधार समझलो। जिस ओर बुद्धि लगती, उस ओर रुचि लगती, उस ओर मन आया और वैसा ही भला बुरा प्रभाव इस पुरुषपर होता है। इससे हम अच्छे विचारोमे रहे और बुरे विचारोंसे दूर हटे।

●

यत्रानाहितधी पुंस श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लय ॥ ९६ ॥

बुद्धिके अनवधेयमे श्रद्धाका अभाव—जिस विषयमे जीवकी बुद्धि नही लगी होती है उससे श्रद्धा, रुचि हट जाती है और जिससे श्रद्धा, रुचि हट जाती है फिर चित्तकी लीनता उस विषयमे नही हो सकती है। ज्ञानी पुरुषोका चित्त विषयोमे

आनन्दप्राप्तिकी कला—आनन्द दो प्रकारके है एक तो कल्पित आनन्द विषय वासना सम्बन्धी और एक आत्मीय सहज आनन्द। लोकमे बहुतसे बडे २ आदमी है, जिनके ठाठ है, इज्जत है, हजारो लाखो पुरुष जिनका स्वागत करते है, किन्तु वे कैसे है? स्वय अपने आपके लिये शात है या नही है? निर्दोष है, कैसे है? यह उन की बात उनके ही पास है। लोगोकी इज्जतसे, लोकके बडावासे शान्ति और आनन्द नही मिलता है। यह तो स्वयकी भावना पर निर्भर है।

विषय सुखकी पराधीनता और सान्तता—विषयोके आनन्दमे ज्ञानीकी रुचि नही है, वह जानता है कि ये सुख तो पराधीन है। कर्मोका उदय अनुकूल हो तो सुख मिलता है इसमे यो प्रधानतया प्रथम तो कर्मोकी आधीनता है। और, फिर उस सुखकी आश्रयभूत जब सामग्री मिलती है तो सुख मिलता है, सो दूसरी आधीनता विषयोकी है। फिर मनके अनुकूल उनका परिणमन हो तो सुख मिले। कितनी ही आधीनताए उनमे भरी हुई है, उनका सयोग इस लोकके आधीन नही है ये जब तक है, है, नही है नही है। पराधीनताका यही अर्थ होता है। खैर ये विषय पराधीन सही, पर सुख तो मिल जाता है, उसे क्यो छोडा जाय। ऐसी शका नही करना चाहिये, उसमे दूसरा ऐब यह है कि वह नष्ट हो जाता है। कौनसा सासारिक सुख ऐसा है जो सदा रहता हो? बडे बडे पुरुषोके भी तो सुबह कुछ, सामको कुछ, दोपहरको कुछ। दोपहरमे पहिले श्री रामको राजगद्दी हो रही थी, उसी समय दोपहर होते ही वनको जा रहे है। कितनी दोनो विरुद्ध बाते है कहा राज्याभिषेक और कहा वनगमन। सच पूछो तो बडे पुरुष ही बडे धर्मात्माजन ही वे होते है जो इतने बलशाली है कि ससार के समस्त सकट उपसर्ग सहन करनेकी शक्ति दृढ कर लेते है।

विषयसुखोमे दु खोकी अन्तरिमता—अहो, ससारमे किसे चैन है? अवि-वेकी जीव हो, हो वह अविवेकमे दु खी है और विवेकी जीव हुआ तो अपना न्याय रखनेके लिये उसे अनेक सकट भोगने पडते है। यो उनपर क्लेश आते है। सासारिक सुख विनाश करके सहित है। इन सुखोके बीच बीच दु ख आते रहते हैं। कौनसा सुख ऐसा है कि जो लगातार बना रहता हो अथवा आधा घटा भी रहता हो। कोई सुख ऐसा न मिलेगा। बीच बीचमे दु खकी लहर आती रहती है। निरन्तर सुखी कोई नही रह पाता है। धनी होनेके सुख हैं तो उसके बीचकी विपत्तिया देख लो।

धनकी रक्षाकी चिंता, व उसमे कही कुछ विरुद्ध खबर आ जाय, टोटा मालूम पड़े, अनेक टैक्स लग गए, कितने ही उसमे मुकदमे भी चलते है, और अब शहरी सम्पत्तिका जो कुछ नियम बनने वाला है, इतनेसे ज्यादा कोई धन नही रख सकता, इसको सुनकर तो कितने लोगोके चित्त अधीर हो उठते होंगे। धन वैभवका सुख दु खोसे भरा हुआ है। परिवारका सुख लेलो, परिवार अच्छा है, आज्ञाकारी है तो दु ख और आज्ञाकारी नही है तो दु ख। रागमे सिवाय क्लेशोके और कुछ नही है। इज्जतका सुख देख लो इज्जतवाला पद पदपर अपनी करतूतए करके आती तौहीनी समझकर दु खी होजाया करता है। अब इतनी इज्जत मिली तो इतनी और मिलना चाहिये, न मिल सके मनचाही इज्जत तो दु ख बना हुआ ही है अथवा मिली हुई इज्जतमे भी तो बडे धोखे है। कोई भी लौकिक सुख ऐसा नही है जिसके बाद दु ख न आता हो। वैषयिक सुख भी दु खमे भरे हुए है।

ज्ञानीकी विषयसुखोमे अनास्था—ज्ञानी पुरुषका विषय सुखोमे आदर नही है। ये विषय सुख स्वय पापरूप है, इनसे पाप ही बधता है। कहा तो यह जीव सुखस्वभावी अपने ही सुखस्वभावमे ठहरता तो आनन्दमय था, किन्तु अपने स्वरूप से चिगकर बहिर्मुख उपयोग हुआ सो इसमे कल्पना जाल बढ गया, दु ख हो गया। पापके कारणभूत है ये सब विषयसुख। इस ज्ञानी पुरुषको विषयसुखोमे श्रद्धा नही होती है लीनता नही होती है, फिर इनमे चित्त कहा लीन होवे।

ध्येयनिर्णयकी प्रथम आवश्यकता—भैया! अपने ध्येयका निर्णय कर लेना प्रथम काम है। बहुतसे लोग वर्षोसे पूजन करते चले आ रहे हैं और भी व्रततप सयम शोध, छुवाछूत, शुद्ध भोजन सब कुछ करते चले आ रहे है पर ध्येयका जिन्हे पता नही है कि ऐसा शुद्ध चैतन्य स्वभाव है, ज्ञानप्रकाश है, सामान्यस्वरूप है इस रूप ही वर्तना, ज्ञाता द्रष्टा रहना यह है सर्व धर्मोका निचोड। यही करना चाहिये, इसीके लिये सब कुछ किया जाता है ऐसा जिन्हें पता नही है वे सब नयेके नये से लग रहे है ४०-५० वर्षके त्यागी पुजारी आदि हो गए फिर भी कुछ उन्नति नही हुयी, वैसेके वैसे ही है जैसे पहले थे।

उन्नतिके लक्षण - भैया! उन्नति किसे कहते है? क्रोधमे कमी आये, घमड मे कमी हो, मायाचारमे कमी हो, या लोभ तृष्णामे कमी हो, उसका नाम उन्नति है, कषायरहित पवित्र वीतराग प्रभुकी भक्तिमे लग रहे है पर अपने कषायमे फर्क रच भी आया तो उन्नति किसे कहा जाय। कर्म तो कषायोसे बँधते है अन्तरगमे कषाय का परिणाम हो तो कर्म बधते है। इस जीवने पर्यायदृष्टि की अज्ञानता की और फिर उस अज्ञानता पोषण उत्साहपूर्वक भी करने लगा। यह कला नही तो फिर क्या है कि ऐसे हमसे बोलना, यों भेष रखना, ऐसे बैठना ये कलाए आ गयी दुनियाको बतानेके लिये जिससे दुनिया यह जाने कि यह साहब ऊँचे धर्मात्मा, बहुत बडे साधुसंत हैं, और अन्तरमे जितनी बात वर्षों पहिले थी उससे भी बिगडी हुई बात अब है, तो

वतावो क्या उन्नति हुई ? उन्नति नाम किसका है सो वतावो।

उन्नतिका मूल मूलका आलम्बन— भैया ! कैसे उन्नति हो, पहिले इसका निर्णय कर लो, मुझे निष्कषाय होना है, शुद्ध ज्ञानमात्र होना है, इस जड शरीरका आग्रह नही करना है, पहिले ध्येयका निर्णय तो कर लीजिये मुझे किसी परमे मुग्ध नही होना है, मेरा कही कोई नही है। नाती, पुत्र, मित्र कोई भी मेरे साथी नही है ऐसा अपने आपको एकत्व स्वरूपमय तो निरख लो, ध्येय वना लो। क्या करना है मुझे ? मुझे अपने निकट आना है और ज्ञानमात्र रह जाना है वाहरमे और क्या काम करना है, किया भी क्या जा सकता है। इतने महल वनाये वे गिर गए, अरे किसका विकल्प लादते हो ? वाहरमे जिस पदार्थका जो होता हो हो, वाहरी पदार्थ छिदे भिदे कही जाय, विनाश हो, वियोग हो मैं तो परिपूर्ण निजस्वरूपमात्र यह आत्मतत्त्व हूँ। ऐसे आत्माकी जहा पकड नही है और वाहरके विषयसाधनोमे जिसकी दृष्टि लग रही है, उसे तो क्लेश ही क्लेश है, अशान्ति ही अशान्ति है। शान्तिका नाम नही।

ससारमे थकनेपर ही कल्पित विश्राम— भैया ! अशान्ति करते करते भी तो थक जाते हैं सो शाति दीखती है, जिसे कहते हैं कि अव परेशान होकर झक मार कर वैठ गये, सो लोगोको लगता है कि वडा शान्त है, पर अतरङ्गमे अशान्ति वर्त रही है क्योकि शान्तस्वरूप निज ज्ञानप्रकाशकी तो पकड ही नही की। जैसे किसी घरमे कोई इष्ट गुजर जाय जो वडा ही प्यारा हो तो घरके सभी लोग रो रहे हैं, वडी वेदना है, अच्छा घटा भर रो लिया अथवा दो चार घटे रो लिया। अव रोया तो दिन भर नही जाता। सो अव रोते रोते थक गया तो थकानकी वजहसे वह शुन्नसानसा पड़ा है, लोग तो यह जानेंगे कि इसे शांति आ गयी अरे, अशान्ति तो वही वर्त रही है जैसी थी दिन भर हो गया रोते रोते वहुत समय गुजर गया इस श्रमको करते करते, सो अव नीद तो आ गयी, पर जहाँ ही सवेरा हुआ, चार वजे, तो फिर वही रोना गाना शुरू हो गया। पडोसमे कोई गुजर गया हो तो फिर एलार्मकी जरूरत नही है वे पडोसी खुद जगा देंगे। तो थककर वैठे हुएको लोग भले ही समझें कि अव यह शान्त है पर वह शान्त है नही, ऐसे ही सभी मोही मलिन पुरुषोकी दिनचर्या देख लो सभी दुःखी रहते हैं। और जव भी यह मौजमे हो सो समझो कि यह दुःखसे थक गया है सो अव दुःखका ढग वदल लिया है, क्लेश तो निरन्तर है, छूटता ही नहीं है। अव क्लेशोका रूप वदल लिया है विषय भोगोंके रूपमे। पहिले क्लेशका रूप था कोई धन छीन ले गया, लूट ले गया, चोरी चला गया तो उसके वियोगमे था अव थक गया दुःखसे। खानेकी इच्छा हुई अव स्वाद ले रहा है दुःखका ढग ही अव वदल गया। मोही जीव इसे दुःख नही मानते। दुःखी हो जाते, पर दुःखकी समझ नही आ पाती कि मैं दुःखी हो रहा हूँ।

ज्ञानीकी वृत्ति—ज्ञानी पुरुषका चित्त विषयोंमे यो नही लगता है कि उसे ज्ञानके सिवाय अन्यत्र कही लगनेकी श्रद्धा ही नही है। इन हेय वस्तुओमे, कुतत्त्वोमे

श्रद्धा न रहे इसका उपाय है कि उनके ढिग न जावो, व्रतोकी जो बाढें बतायी गयी है जैसे शीलकी बाढ अनेक हैं—किसी स्त्रीका वस्त्र न पहिने, किसी पुरुषका वस्त्र न पहिने, निकट न बैठे, रागभरी दृष्टिसे बोलचाल न करना आदि जैसे अनेक बाढे है उन बाढोका प्रयोजन यह है कि थोडा भी ढङ्ग स्नेहका मत रक्खो, क्योकि थोडे ही ढङ्ग के बाद यह स्नेह बढ बढकर एक विशाल भयङ्कर रूपमे बढ जाता है तो किसी भी बाह्य पदार्थमे रच भी बुद्धि मत लगाओ, क्यो उनकी ओर रुचि होनेका अवकाश हो। यदि उनकी ओर रुचि न होगी तो चित्त लीन न होगा, यह तो ज्ञानी पुरुषकी बात है, अब अज्ञानीकी बात देखो।

तत्त्वश्रद्धाके अभावका व्यक्त कारण—इस अज्ञानी पुरुषका चित्त तत्त्वज्ञानमे क्यो नही लगता है, धर्मचर्चामे चित्त क्यो नही लगता, ज्ञानकी बात क्यो कठिन दीखती है ? कोई कहता है कि क्षयोपशम नही है साहब ! अरे नही है तो इस करणानुयोगकी विशेष बातें, कर्मोकी अन्य-अन्य स्थितिया न जान सकोगे, न जानो, पर यह मैं आत्मा केवल ज्ञान प्रकाशमात्र हूँ ऐसा अनुभव करने लायक क्षयोपशम ले सकते हैं। नाना प्रकारकी विचित्र विद्याओका क्षयोपशम न भी हो, पर अपने आपके स्वरूपका ज्ञान करनेका क्षयोपशम तो प्रत्येक मनुष्यमे है। अक्षरविद्याके पढने और बाचनेका क्षयोपशम तो पशुओके भी नही होता। किसी भैसके आगे शास्त्र रख दो और कहो कि पढ, तो क्या वह पढ देगी ? नही पढ सकती है मगर उसके भी इतना क्षयोपशम है कि अपने आत्माके स्वरूपका अनुभव कर सकती है। यहाकी नानाप्रकार की विद्याओके पानेका क्षयोपशम होनेसे मोक्षमार्ग न मिल जायगा किन्तु आत्मानुभव की बुद्धि मिले, आत्मानुभव जगे तो उससे मोक्षमार्ग मिलेगा। देखो भैया ! है तो स्वय ज्ञानमय, केवल ज्ञानकी दिशाभर पा जाय इतनी ही तो बात है, मगर अज्ञानी जीवका तत्त्वकी बातोमे चित्त नही लगता, क्योकि तत्त्वमे उसकी श्रद्धा ही नही है। क्यो, श्रद्धा नही है कि इसने वस्तुस्वरूपकी ओर बुद्धि ही नही लगायी है।

अज्ञानीके विवेचनका दिवाला—भैया ! बताओ इतना समझनेमे क्या कठिनाई है कि प्रत्येक पदार्थ जुदा है। कुछ कठिनाई तो नही हैं, पर मोहकी लगार हो तो यह बात समझमे नही आती है। किसीका मान लो १०-२० हजारका धन गिर गया हो अथवा किसी ने छीन लिया हो, चुरा लिया हो तो वह दुःखी हो रहा है और, उसे समझाने बैठो देखो भाई इतनी बात समझ लो कि वह धन हमारे पास था ही नही, तो वह कहता है कि तुम कह तो ठीक रहे हो, पर यहा समझमे आता ही नही। तो मोहका लगार है इस कारण समझमे नही आता है। वही बात दूसरेको समझाये वही पुरुष जिसके २० हजार गिर गए थे तो दूसरेको समझाने लायक तो समझ है इसके पर खुदके समझने लायक समझ इसके नही आती है कितनी विचित्रता है। अज्ञानी पुरुषने वस्तुस्वरूपकी ओर बुद्धि ही नही लगायी इसलिये उसके तत्त्वमे श्रद्धा नही है और जब श्रद्धा नहीं है तो उस स्वरूपमे चित्त कहा लग सकता है।

कल्याणप्रद शिक्षण—इन दो श्लोकोमे हमे यह शिक्षा लेना है कि अनादि-कालसे ही ससारमे हम जन्म मरण पाते चले आ रहे है, आज दुर्लभ मानव जीवन पाया है तो इसका खूब सदुपयोग करले, ध्येयका निर्णय करलो। जिस ओर चित्त लगानेसे सकट मिट सके उस ओर ही चित्त लगाओ, शेष सर्व पदार्थोमे उदासीनता वर्तो, इस वृत्तिसे ही कल्याण होगा।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा भिन्नो भवति तादृश ।
वर्तिर्दीप यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

भिन्नात्माकी उपासनासे भिन्नात्मत्वकी उपलब्धि- मुमुक्षु पुरुषको जिस विषयमे ध्यान लगाना चाहिए उस विषयका वर्णन यहा दो प्रकारासे किया जायगा एक तो इस मुमुक्षुका ध्येय भिन्न तत्त्व होगा और दूसरे उपायसे मुमुक्षुका ध्येय अभिन्न तत्त्व होगा । यह जीव भिन्न आत्माकी उपासना करके अर्थात् अपनेसे भिन्न जो अरहत सिद्ध देव हैं उनकी उपासना करके वैसा ही उत्कृष्ट बन जाता है। जैसे अरहत सिद्ध देव मुझसे भिन्न है और ये खुद भी अपने आपके स्वरूपमे दृढ होनेके कारण कर्म नोकर्मसे भिन्न है। इस भिन्नके दो भाव समझना कि वह हम आपसे भिन्न है और वह खुद भी भिन्न है, अर्थात् उन्होने कर्म नोकर्मका भेदन किया है ऐसे भिन्न आत्माकी उपासना करके यह जीव उस ही प्रकारका परमात्मा हो जाता है।

भिन्नात्माकी उपासनाकी उपादेयताका दृष्टान्त पूर्वक समर्थन— भिन्नात्माकी उपासनासे भिन्नात्मा होनेके समर्थनमे एक दृष्टान्त कहा जा रहा है कि जैसे बत्ती दीपकी उपासना करके उस दीपसे भिन्न होकर भी वह बत्ती उस ही प्रकार की प्रकाशमय हो जाती है। पहिले समयमे दीवा जलते थे सरसोके तैलके। एक दीवा तैलका जल रहा है दूसरा जलाना है तो उसकी बत्तीका लौमे लगा दो यद्यपि बत्तीका स्वरूप अन्य प्रकार है और उस लौका स्वरूप अन्य प्रकार है, लेकिन यह बत्ती उस दीपककी लौका स्पर्श पाकर उसकी उपासना करके यह बत्ती भी प्रकाशमय हो जाती है। जलते हुये दीपकके पास दूसरे दीपककी बत्ती जब ले जाते हैं तो ऐसा लगता है जैसे यह बत्ती उस दीपककी उपासना कर रही है। उस दीपकसे मानो यह बत्ती कुछ भीख माग रही है, यो सेवा करती है वह बत्ती दीपककी उपासना करके स्वय प्रकाशमय हो जाती है इस ही प्रकार भिन्न आत्मा जो अरहत सिद्ध देव है उनकी उपासना करके भी यह भक्त परमात्मा हो जाता है।

भिन्नमे भी अभिन्नकी उपासना—भैया ! वस्तुत अरहत सिद्धके ध्यानमे भी उस ध्यानको माध्यम बनाकर अपने ही स्वभावकी उपासना की जा रही है। किन्तु मुमुक्षु यहां यत्नपूर्वक साक्षात् अरहत सिद्ध विषयक ध्यान बनाता है इस कारण कहा गया है कि यह भक्त पुरुष भिन्न आत्माकी उपासना करके भिन्न हो जाता है।

इस मुमुक्षु पुरुषको जिसमे चित्त लगाना चाहिए ऐसा वह आत्मध्येय दो प्रकारका है। एक तो स्वय अपना आत्मा जो अभिन्न ध्येय है इसकी बात इसके आगेके श्लोकमे कही जायगी, और दूसरे प्रकार यह भि· ध्येय यह भिन्न आत्मा है जो समस्त दोषोसे विविक्त हो गया है, जिसमे आत्म गुणोका पूर्ण विकाश है ऐसे भिन्न ध्येयकी उपासनासे भी यह आत्मा परमात्मा बन जाता है। जैसे बत्ती अपना अस्तित्व न्यारा रख रही है अपना व्यक्तित्व अपना परिणमन सब अपनेसे न्यारा रख रही है फिर भी जब दीपककी उपासनामे यह बत्ती तन्मय होती है तो यह बत्ती भी जल उठती है। जिसमे कुछ प्रकाश न था ऐसी बत्ती अब प्रकाशमय बन जाती है ऐसे ही भिन्न अस्तित्व रखने वाला यह आत्मा परमात्माकी उपासना करके परमात्मा हो जाता है।

पावन प्रभुभक्ति —इस पवित्र अरहत सिद्धदेवके प्रति भक्ति पहुँचे यह बहुत पवित्रताका काम है। जगतके मोही जीवोमे ऐसी सुबुद्धि कहाँ है कि वे विषय कषायो मे रुचि न करके उनमे आस्था न बनाकर निर्दोष जो परमदेव है उनकी भक्तिमे, उनके गुणानुरागमे रहकर प्रसन्न रहा करे। कुछ खोजकर भी देखलो, एक छोरसे दूसरे छोर तक सारे नगरमे ढूँढकर भी देख लो, विषय कषायोमे रुचि रखने वाले लोगोकी सख्या नजर आयगी। कोई विरला ही पुरुष ऐसा है जो इन्द्रियके विषयोसे उदासीन है और भगवद्भक्तिमे जिसका उत्साह है यह भी बहुत कठिन बात है कि प्रभुसे नेह लगे। यह मोहकी कितनी कठिन मलिनता है कि इस मोही जीवका मन मलिन दुखी पुरुषोमे पहुचता है। हालाकि जिस प्रकार भिन्न अरहत सिद्ध भगवान है वैसे ही भिन्न परिवारके लोग है। समस्त जीव एक दूसरेसे न्यारे है लेकिन इन मोही मलिन पुरुषोमे नेह लगानेमे जवाबमे क्या मिलेगा। जैसा विषय बनाया, परिणाम किया उस ही प्रकारकी बात तो मिलेगी। निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग प्रभुकी भक्ति करनेके जवाबमे क्या मिलेगा, अर्थात् अपने आपमे क्या प्रभाव पडेगा ? निर्मलता प्रकट होगी।

जगजजाल अहो, यही तो जगजजाल है कि मिलना कुछ भी नही है पर नेह लगाते जा रहे है इन भोगके साधनोमे वृद्धावस्थामे तो कुछ खबर भी आती होगी कि सारी जिन्दगी यो ही व्यर्थमे खोई, अतमे रहा कुछ नही। कितनी विडम्बनाएँकी, कितने मसूबे बनाए, कितना श्रम किया पर आज कुछ नही है। आती है वृद्धावस्था मे खबर, लेकिन साथ ही मोह और प्रबल भी होता जाता है। हाय, कैसी परेशानी है कि क्लेश भी भुगतना जारी रहता है व मोहकी बान ही चित्तमे समायी रहती है, जिनके कारण दुखी हुए है उनके ही प्रति नेह बढाया जाता है। यह स्थिति हो रही है सबोमे इस जीवका यह काम नही था क्या कि शरीरमे यो फसे रहना। स्वय यह ज्ञानस्वरूप है और अपने ज्ञानस्वरूपको भूल जाय और इन इन्द्रियके साधनोसे ऐसा ज्ञान किया करे, क्या यह कोई जीवका काम था लेकिन हो तो यही रहा है। इन्द्रियो से प्रीति, इन्द्रियके विषयोमे प्रीति और इन्द्रिय विषयके साधनोमे प्रीति। शुद्ध निर्दोष प्रभुमे चित्त लगाना यह किसी ही ज्ञानी पुरुषके होता है।

चित्तलीनताकी परख— प्रभुमे चित्त ज्यादा बसा है या स्त्री पुत्रमे चित्त ज्यादा बसा है इसकी परख यह है कि अपने सम्बन्धित तन, मन, धन, वचन इन सब का न्योछावर किसके प्रति करने की उमग है, इसे विवेक तराजूसे तौल डालो, उससे यह परख होगी कि हमारा किस ओर अनुराग विशेष है। बडोकी सगति जैसे इस लोकमे कठिन है न, इस ढगसे बडे देवाधिदेव सर्वज्ञ प्रभुमें नेह लगाना, उनकी भक्ति मे चित्त जाना यह कितनी कठिन बात है। जो पुरुष प्रभुकी भक्ति करते हैं उनके लिए मोक्षका मार्ग सब स्पष्ट सामने आता है। ऋषि सतोका अथवा किसी पुरुषका ज्ञान भी शुद्ध हो जाय और आचरण भी शुद्ध हो, किन्तु जब तक प्रभुमे भक्ति नही होगी तब तक मुक्तिका मार्ग उसे नही प्राप्त होता है प्रभुभक्तिका बडा मूल्य है साक्षात् परिणामोमे उज्ज्वलता होनेका साधन है तो यह प्रभुभक्ति है।

णमोकार मत्रमे आद्यपद— हम णमोकार मत्रका स्मरण करते हैं, पर पाठ पढकर चले जायें, स्वरूपका स्मरण न करें तो उससे अपने आत्मापर कुछ भी असर नही होता है। जब जिस पदका उच्चारण करें, जिसको नमस्कार कहनेकी बात कहे उसका स्वरूप भी उसके साथ साथ स्मरणमे हो तो उससे अलौकिक लाभ होता है। उत्कृष्ट पद ५ हैं—अरहत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। सर्वप्रथम कोई मनुष्य साधु बनता है, न पहिले आचार्य हो सके, न उपाध्याय हो सके। प्रथम तो दीक्षा होगी तब वह साधु कहलायेगा। आचार्य और परमेष्ठी ये दो पद आत्महितके लिये आवश्यक नही है। आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी न बने तो मोक्ष न मिलेगा ऐसी बात नही है, मुक्तिके लिये तीन पद अवश्य आते हैं साधु हो, अरहत हो और सिद्ध हो। आचार्य उपाध्याय भी साधु ही हैं, थोडी व्यवहारकी विशेषता भर है। जो समस्त साधुवोके प्रमुख हो, साधुजनोको प्रायश्चित्त दें, उत्तम सम्मति दे, उन्हें आदेश दें तो वे आचार्य कहलाते हैं। और, जो उन साधुवोमे विशेष ज्ञानवान साधु है, जिन्हे आचार्यने उपाध्याय घोषित किया है वे उपाध्याय कहलाते हैं। ये तीनो साधु परमेष्ठी हैं।

णमो लोए सव्वसाहूण - साधुवोका काम आत्मसाधनाका है। कैसे आत्मसाधना होती है। कैसे ये योगीजन अपने आपमे इस परमार्थ आत्मतत्त्वकी साधना करते हैं इन सब बातोकी जिसे परख हो ऐसा भक्तपुरुष जब 'णमो लोए सव्वसाहूण' कहता है तब उसके उपयोगमे विभिन्न प्रकारसे तपस्यामे रत साधुजन दृष्ट होते हैं। कोई गरमीमे पहाडपर एकाकी ध्यानस्थ होकर तपस्या करते हैं, कोई कितने ही दिनो तक उपवास ठाने हुए अपनी तपस्तामे तुष्ट हैं, कोई किसी गुप्त एकाकी गुफामे साधनो के लिए विराजे हुए इस शुद्ध ज्ञानतत्त्वकी साधना करके तृप्त हो रहे हैं। यो अनेक प्रकारसे साधुजन दिख जायें ऐसी उपयोग धाराके साथ णमो लोए सव्वसाहूणका जाप है।

णमो उवज्झायाण – उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञानी साधु होते हैं, जो स्वय अपनी विद्या चर्चित कर रहे हैं और साधुवोको अध्ययन कराते है। जब णमो उवज्झायाण

बोलो तो ऐसा दृश्य उपयोगमे आये कि इस ओर एक उपाध्याय परमेष्ठी विराजा है और ४, ६, १०, साधुजन विनयपूर्वक उपाध्यायसे ज्ञानाभ्यास कर रहे है, जिनका केवल ज्ञानार्जन ही प्रयोजन है, किसी अन्य ध्येयमे जो है ही नही। एक ज्ञानकी ही लौ लगी है ऐसे साधुजन देखो कैसे रुचिपूर्वक विनय सहित उपाध्याय परमेष्ठीसे अध्ययन कर रहे है यहाँ बैठे है, उस जगह हैं, टीलेपर है, मैदानमे हैं, वृक्षके नीचे हैं, कितनी ही जगह शास्त्र पढते हुए साधुसतोके दृश्य उपयोगमे रहे और सब उपाध्यायोको एक नजरमे देखते हुए बोले "णमो उवज्झायाण"। स्वरूप दर्शन सहित भक्तिमे अतुरा प्रताप होता है।

णमो आयरियाण जब "णमो आयरियाण" बोले तब अनेक जगह ऐसे दृश्य अपने ज्ञानसे दीखे कि १०, २०, ५० साधुवोके बीच आचार्य परमेष्ठी विराज रहे हैं, ये आचार्य स्वय ससार शरीर और भोगोसे विरक्त है, अपने आत्माकी साधना का ही जिनका मुख्य लगाव है, साथ ही पर जीवोपर परम करुणाभाव होनेसे साधुसत जनोको मोक्ष मार्गमे चलनेकी पद्धति बताते जा रहे हैं और कभी कभी किसीसे दोष बन जाय तो उस दोषकी शुद्धि करके प्रायश्चित्त देकर शिष्यको मोक्षमार्गमे आगे बढने मे सहयोग देते है। ऐसे विभिन्न क्षेत्रोमे विराजे हुए साधु सतोके बीच आचार्य परमेष्ठी नजर आयें और उस नजरके साथ ही साथ चितन हो 'णमो आयरियाण"।

णमो अरहताणं—आचार्य, उपाध्याय व साधु ये तीन परमेष्ठी आत्मसाधना के प्रतापसे एक अभिन्न ज्ञानस्वरूपके ध्यानमें रत होते हैं, जिस विशिष्ट ध्यानका नाम शुक्लध्यानके प्रतापसे भव भवके सचित कर्मोंका विनाश कर रहे है ये साधुसत, अशुभोपयोग और शुभोपयोगसे निवृत्त होकर शुद्धोपयोगमे लीन हो रहे हैं। ऐसे विशुद्ध उपयोग द्वारा ये साधुजन दोषोका व्यय करते जा रहे हैं, जब समस्त दोष नष्ट हो जायें तो इस ज्ञानस्वरूपमे स्वत ऐसा बल प्रकट होता है कि सारे विश्वका ज्ञाता हो जाता है। जैसे किसी लोकविद्याके पढनेकी पद्धति है पुस्तक लेकर बैठना और गुरुसे पाठ सीखना। सभी लोक विद्यावोकी करीब करीब इस ही प्रकारकी पद्धति है, किन्तु जो समस्त लोकालोकको जान जाय ऐसी अतुलविद्याकी सिद्धि करनेका उपाय सब उपायोमे कुछ विलक्षण है क्योकि अपने ज्ञानको सब ओरसे समेट ले, किसी भी अन्य वस्तुके जाननेकी रुचि न करे। यह सारे विश्वको जाननेका उपाय कहा जा रहा है। सारे विश्वको जाननेके उपायमे यह कर्तव्य है कि एक भी अन्य पदार्थको जाननेका श्रम न करे, अपने उपयोगको अपने ज्ञानस्वभावमे केन्द्रित करदे। इस केन्द्रीकरणका ऐसा अतुल प्रभाव पडता है कि एकसाथ अन्तर्मुहूर्तमे ही समस्त तीन कालके पदार्थोका यह ज्ञाता होजाता है, जब यह सर्वविश्वका ज्ञाता हुआ तब अरहत कहलाता है, अरहत देवके चार घातिया कर्म नही है, न भी दोष नही है, केवल शुद्ध ज्ञानविकाश रूप है।

णमो सिद्धाण - जब णमो सिद्धाणका स्मरण करे तो यों लोकाकाशमे विराजे हुए निर्दोष परमात्माका स्वरूप दृष्ट होना चाहिए। जब णमो सिद्धाण कहे

तो केवल ज्ञानपुञ्ज जो है वे मनमें विराजे हुए दृष्टिमें रहना चाहिए। इस तरह भिन्न आत्माकी उपासना करके यह भक्त भिन्न अर्थात् निर्दोष परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार परमात्माकी ओर बुद्धि करनेसे परमात्मामें अपनी श्रद्धा बढ़ती है और इस ही पवित्र स्वरूपमें चित्त लीन होता है। इसके प्रसादसे यह आत्मा सर्वकलङ्कसे मुक्त होकर सर्वथा निष्कलङ्क हो जाता है।

●

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ९८ ॥

अभिन्नात्मतत्त्वकी उपासनासे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति—अपने चित्तको दो जगह लगाना उचित है एक तो परमात्मस्वरूपमें और दूसरे अपने आत्माके सहज स्वरूपमें। परमात्माका स्वरूप मुझसे भिन्न है और परमात्माको भी भिन्न आत्मा बोलते हैं, अर्थात् रागद्वेषादिक विभाव, ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीर इन सबसे वह जुदा हो गया है इस कारण भगवानका नाम भी "भिन्न" है। उस भिन्न आत्मा की उपासना करनेसे यह उपासक भी भिन्न हो जाता है अर्थात् परमात्मा हो जाता है। जैसे दृष्टान्त भी दिया था बत्ती दियाके पास पहुचकर खुद दिया बन जाती है। तो परमात्मामें अपना चित्त बसाना हो तो परमात्माकी ओर हमारी दृष्टि अधिक रहनी चाहिये। दूसरी उपासना है निज सहज स्वरूपकी। यह अभिन्न आत्मा अपने में भिन्न है, अपने आत्मतत्त्वकी उपासना करके भी यह जीव परम आत्मा बन जाता है। जैसे जंगलके बास अपने आपसे रगड करके अग्नि हो जाते हैं ऐसे ही यह आत्मा अपने आपकी उपासना करके परमात्मा हो जाता है।

अभिन्नात्मतत्त्वकी उपासनासे परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—भैया ! बासोंमें अग्नि देखोगे तो कहा मिलेगी। वे तो केवल वनस्पति हैं, किन्तु अग्निरूप बननेकी उनमें शक्ति नही होती तो वे बास परस्परमें कुछ रगड करने से कैसे आग बन जाते। पत्थरोंमें भी जब एक दूसरेको टक्कर मारते हैं तो अग्निके कण निकलते हैं, उससे भी विशेषता बासोंमें हैं। बासोंके जगलोंमें प्राय धोखा ही बना रहता है। न जाने कब आग लग जाय। वे बास खुद ही एक दूसरेसे रगडकर आगरूप हो जाते हैं। तो जैसे बास बासकी उपासना करके बास स्वय आग बन जाता है इसी प्रकार यह आत्मा आत्माके आत्मीय सहज गुणोकी आराधना करके परमात्मा बन जाता है।

सत्पथगमनमे बाधा—भैया, बात तो इतनी स्पष्ट है कि जिसपर दृष्टि देनेसे तत्त्वानुभवका मार्ग साफ समझमें आता है किन्तु करते क्यो नही बनता, लोग इस पथपर क्यो नही चल पाते, और चलना भी क्या है, ऐसे ही स्वरूपका यथार्थस्वरूप का यथार्थस्वरूपमे निरखते रहना है, यही चलना है, उस यथार्थ तत्त्वकी ओर दृष्टि

क्यो नही रह पाती है ? इसमे अज्ञान सम्कार ही कारण है ।

सहज स्वरूपकी उपासना – प्रत्येक पदार्थ परस्परमे भिन्न है, अपने अपने स्वरूपमे परिपूर्ण है, अपने आपके परिणमनसे ही वह परिणमन करता है । एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थके साथ सम्वध नही है । निमित्त नैमित्तिक भावमे हो जाता है, निमित्त पाकर नैमित्तिक भाव, फिर भी एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे सम्वध नही है । चतुष्टय सवका न्यारा न्यारा है । यह मैं आत्मा भी अपने समग्र गुणोमे तन्मय और अपने ही स्वरूपमे परिणता रहता हूँ । उन सव परिणमनोका श्रोतभूत मूल आधार जो सहज स्वभाव है उस सहज स्वभावरूप मैं हूँ, ऐसी अपने आपकी प्रतीति रखने और ऐसा माननेमे ही हित है तथा शान्ति प्रकट होती है । इस दृष्टिके साथ अपने आपकी ओर ही दृष्टि लगायें तो इस अभिन्न आत्मतत्त्वकी आराधना होती है वहुत वडा प्रताप है अपने आपके सहज स्वरूपकी उपासनाका ।

अज्ञानमे समय यापन – अज्ञानीजन पुण्योदयमे प्राप्त हुए समागम शान, इज्जत, प्रतिष्ठा, यशमे वह जाते है और उसकी ही मौजमे अपने स्वरूपकी खबर छोड कर एक बाह्य दृष्टिमे ही उलझ जाते हैं । जीवनके क्षण ऐसे निकले जा रहे है जैसे पर्वतसे गिरने वाली नदीका वेग निकल जाता है जो वेग निकलता है वह लौटकर पर्वतके ऊपर नही वह सकता है । गया सो गया । इसी प्रकार ये हम आपके अमूल्य क्षण जो वीत गए सो वीत गए । कोई कितनी ही मिन्नतें करे, प्रार्थना करे पर वे एक भी वीते हुए क्षण वापिस नही आ सकते हैं । जितने क्षण व्यतीत हो गए उनसे ही अदाज करलो कि जिन कार्योंमे तुम लगे रहे, धन सचय अथवा लोक सम्मान आदि उनमे जुटे जुटे कितना समय गमा दिया, पर उनके फलमे आज कुछ हाथ है क्या ? शान्ति इज्जत कुछ है क्या ? लोगोकी सेवा करते करते अपना जीवन गुजार दें और कहो उन्ही लोगोके द्वारा अपमान हो जाय, वे ही लोग कहो इज्जत विगाड दे ऐसा भी आजका समय है । खैर इज्जत भी करे कोई तो उससे कुछ हाथ नहीं आता है ।

परमार्थविभूति— यह जैन सिद्धान्त जो वस्तु स्वरूपका यथार्थ प्रतिपादन करता है उस सिद्धान्तकी वात सुननेको मिलना और समझ सकना इससे वढकर और क्या विभूति चाहते हो ? वास्तवमे इसके सिवाय और कुछ वैभव नही है । यदि वैभव मानते हो किसी जड पदार्थके वहनेसे तो यह वतावो कि उस वैभवसे क्या आपका गुजारा होता है ? वही पाव भर अन्न और दो मोटे कपडे यही चाहिए ना इसके अलावा जो सारा वैभव जुटा है वह आपके लिये वेकार है ना । यदि वैभवके रखे रहने से ही कुछ मौज मानी जा रही हो तो जरूरतके माफिक तो सबके पास है ही । उसके अतिरिक्त दो चार मन पत्थर जमीनमे गाड दो, और सोच लो कि जैसे लोगोके पास करोडोका धन गडा है वैसे ही हमारे पास भी करोड़ोका धन गडा है । जैसे उनके लिए वह करोडोका गडा हुआ धन वेकार है वैसे ही यह भी वेकार है । कौनसी वात पा ली है अव तकके समयमे सो वतावो । एक अपने स्वरूपकी खबर होना और ऐसे

निष्पक्ष वस्तु स्वरूपके प्रतिपादन करने वाले शास्त्रोका अभ्यास कर लेना उससे बढ कर जगतमे कुछ नही है। माननेको कुछ भी मानते जावो। उन्ही उपदेशोके प्रसादसे जो तत्त्वज्ञान पाया है, आत्माकी झलक पायी है उस अभिन्न आत्माकी उपासनामे जितना समय गुजर जाय वे क्षण क्षण अमूल्य हैं, उससे अनुपम लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

कारण परमात्मत्वके दर्शनकी विधि—यह अपने आपका स्वरूप अपने आपको विदित हो जाय यः बहुत कठिन लग रहा है अज्ञानीको, किन्तु ज्ञानीको विशद व्यक्त हो रहा है। चकमकमे आग किसीको दीखती है क्या ! थैलियामे भरे रहते हैं। वह आग हो तो थैलियां जल जानी चाहियें। है उसमें आग, किन्तु यों ही नहीं प्रकट हैं ज्ञानीजन समझते हैं जो मानते हैं वे पहाडमेसे तलाश लेते हैं कि यह चकमक पत्थर है, इसमे शक्तिरूपसे आग विद्यमान है पर बाहर नही प्रकट है। बांसमे अग शक्तिरूप विद्यमान है पर ऊपर नही प्रकट है। जानने वाले सब जानते हैं, और प्रकट होनेका जो उपाय है उस उपायसे प्रकट भी कर लेते हैं। ऐसे ही आत्मामे, हम आप मे यह परमात्मप्रभु विराजमान है। उन दृष्टान्तोमे दिये गये पदार्थोंने तत्त्वकी बात कुछ भी प्रकट नही है, किन्तु यहा तो प्रकट है। कुछ भी हो तो अत व्यक्त है किसी अशमे किसी रूपमे वह शक्ति पर्त रही है, लेकिन जिस स्वरूपके निरखनेपर भव भवके कर्म क्लेश दूर हो जाते हैं उस रूपमे नही निरखनेमे आ रहा है अज्ञानीजनोके।

आत्मानुभवकी पद्धति—लोकमे कौनसी वस्तु ऐसी है जिसके पा लेनेपर सब कुछ पा लिया। लोकमें कौनसी वस्तु ऐसी है जिसके देख लेनेपर सब कुछ देख लिया? वह वस्तु है निज सहज चैतन्यप्रकाश यह दूसरोंकी आशा रखकर नही मिलता है, बल्कि इस आत्मतत्त्वके प्रतिपादक उपदेशक साधुजनोकी ओर निगाह रखते हुए, अरहत की ओर दृष्टि करते हुएकी हालतमें भी आत्मतत्त्व अनुभूत नही होता, वे ही उपदेश देने वाले हैं उनको ही तकते रहें तो आत्मानुभवकी बात नहीं मिलती है। अरहत देव भव्य जीवोको साफ कह रहे हैं कि मेरी ममता छोडो, मेरी भक्ति छोडो, मेरी दृष्टि छोडो, जानो वस्तुका स्वरूप तो तुम्हे वह तत्त्व मिलेगा। इतना स्पष्ट प्रतिपादन कौन कर सकता है। जिनेन्द्र देवका यह उपदेश है कि तुम वस्तु स्वरूपको समझो और हमारी भी दृष्टि छोड दो। तुम हीमे तुम्हारा प्रभु मिलेगा। शान्त हो कर विश्रामसे अपने आपमे अमृत कल्याण पावो।

आत्ममननका उपदेश—भैया, बात जहा जैसी सच होती है वहा वह सच ही है, जिनेन्द्र देवका उपदेश है कि मुझे छोडो, मुझे भूलो, मुझसे स्नेह मत करो किन्तु सच्चे भक्तोमे यह माद्दा अवश्य है कि वे प्रभुका अनुराग करके कुछ ही समय बाद प्रभुकी प्रभुताको स्वरूपमें गर्भित करके परदृष्टि छोड देंगे और अपने आपके ही स्वभावका अनुभव करेंगे। जैसा भगवतका उपदेश है वैसा ही कर लेंगे। जैसे बांसमें आग छिपी है पर बांसके घर्षणका निमित्त पाकर वहा आग प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार

आत्मामे ज्ञान दर्शन आनंद आदि गुण शक्तिरूपसे विद्यमान है प्रकट नही है किन्तु आत्माका आत्मामे ही घपण हो, आत्मा आत्मामे ही अपना पुरुषार्थ करे, दृष्टि करे तो सर्व गुणोकी व्यक्ति हो जाती है।

केन्द्रीयकरणका प्रताप —आत्मीय गुणोकी प्राप्तिके लिये अन्य सब वाहरी आडवर, क्रियाएँ, चेष्टाएँ, दृष्टिया, आश्रय, सब कुछ छोडकर समस्त परतत्त्वोसे उप-योग हटाकर स्वरूपचिंतनमे एकाग्र करना है। केन्द्रित होनेके बाद शक्ति विशेष प्रकट होती है। जैसे आतसी काचमे सूर्यका प्रकाश केन्द्रित होनेके बाद उसमे परवस्तुको जला देनेकी ताकत आ जाती है। जैसे हाई जम्प करने वाला बालक याने रस्सीको फादकर निकलने वाला बालक पहिले अपनी शक्तिको पृथ्वीकी ओर लगाता है फिर उचकता है तो वह ऊँचा उचक जाता है। जो लोग ऊँची कूद करनेका काम करते हैं वे उस कूदसे पहिले अपनेको जमीन पर बोझ देकर उठते है। शक्तिको अपने आप की ओर उन्होने केन्द्रित की जिसके फलमे वे ऊँची कूद कर सके।

परम साधना—जो पुरुप मौन रखकर चुप रहकर अपने आपमे कुछ विचा-रणा करके कहते हैं तो उनके बात करनेमे कुछ विशेप प्रताप प्रकट होता है क्योकि उन्होने दूसरोको कहनेके पहिले अपने आपमे सयम बनाया। तीर्थंकर प्रभु मुनि होने के बाद पूर्ण मौन रहते है। किसीसे बात नही करते जिसके फलमे उन्हे केवलज्ञान प्रकट हुआ और फिर केवलज्ञानके बाद वाञ्छाके निरीह वृत्तिसे उनका दिव्य ध्वनि रूपमे उपदेश हुआ। बल कहासे लाना है स्वय ही यह अनन्त शक्तिका पिण्ड है। अपने आपमे अपने आपको केन्द्रित करें उतना ही बल आनन्द ज्ञान, दर्शन असीम प्रकट होता है। अपने आपकी उपासनासे ऐसी ध्यान अग्नि प्रकट होती है कि भव भवके बसे हुए कर्म भी भष्म हो जाते है और समता जलसे सारी भष्म उडकर यह आत्मा स्वच्छ शुद्ध अमूर्त ज्ञानस्वरूप प्रकट हो जाता है। इस हीमे परम कल्याण है ऐसी ही शुद्ध स्थिति हमारे लिए उत्तम है। यही मगलस्वरूप है, यही वास्तविक शरण है।

बाह्यमे शरण कहाँ—हम शरण कहा ढूढने जायें? बाहरमे कही मिलता नही शरण, क्योकि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ हमे अपना नही सकता बातें कोई कैसी ही शान मारे, कितनी ही कोई चतुराई होशियारीकी बातें करे पर मुझे वह अपना कैसे सकेगा। वस्तुके स्वरूपमे भी यह बात नही है कि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुको अपना सके, फलत यह मैं आत्मा स्वय ही अपने आपके लिए शरण हूँ और परम शरण हूँ।

महती विडम्बना और सम्पदा—भैया! व्यर्थका मोह परिणाम करके दु.खी होता है यह जीव। दु.खी होनेका कारण कुछ नही है। कौन करता है दु खी? धन मिटा, मिट गया, पर वस्तु है उसका यो परिणमन हो गया। उसमे दु.खकी कौन

की बात थी ? पर मोहकल्पना बनाकर इसने व्यर्थ अपने दुःखी कर डाला। कोई इष्ट-मित्रादि कुटुम्बीजन वियोग हो गया, उसका जीव था यह जब तक यहाँ था, यहाँ था, चला गया सो चला गया। इसमें इसके घरका कौन सा नुकसान हुआ ? करके देखो, सबकी बात निरखो। कुछ भी तो हानिकी बात नहीं है ना लेकिन यह अज्ञानी पुरुष कल्पना करके अपना ऐसा दिमाग बना लेता है कि हाय, मुझ जैसा कोई दुःखी नहीं है, बड़ा सङ्कट आ जाता है सङ्कट है नहीं रंचमात्र भी परकल्पनासे पहाड़ बराबर सङ्कट अपने ऊपर डाल लिया। अज्ञान अवस्थासे बढ़कर कुछ विडम्बना नहीं है और ज्ञानदृष्टिके बराबर लोकमें कहीं भी कुछ सम्पदा नहीं है। इस अपने आपमें अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करे और अपनेमें अपना मन रमाये तो यह जीव बहिरात्मावस्थाको छोड़कर परमात्मा हो जाता है।

●

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥ ९९॥

शुद्ध उपासनाका फल - जैसा कि पूर्वके दो श्लोकोंमें बताया गया है कि अपने उपयोगको स्वच्छ और परम विकसित करनेके लिए भेदरूपसे परमात्माकी उपासना करनी चाहिए और अभेदरूपसे परमात्मतत्त्वकी उपासना करनी चाहिए। इस श्लोकमें उसी उपायका समर्थन करते हैं कि इस ही प्रकारसे इस अनिर्वचनीय आत्मतत्त्वकी निरन्तर भावना करनी चाहिए। इस निजपरमात्मतत्त्वको भी द्रव्य गुण पर्यायोंके विवरण सहित जानना सो भेदरूप जानना है और द्रव्य गुण पर्यायका भेद हटाकर केवल प्रतिभास स्वरूपको जानना सो अभेद जानना है। यों भेदरूप उपासनासे अथवा अभेदरूप उपासनासे यह जीव अनिर्वचनीय पदको स्वयमेव प्राप्त होता है।

विषयसुखोंमें शान्तिका अलाभ - इस जीवको चाहिए क्या ? शान्ति। शान्ति क्षोभमें नहीं मिलती है, जिस परिणमनमें परपदार्थ निमित्त हों अथवा परपदार्थोंकी ओर दृष्टि हो वे परिणमन शान्तिके लिए नहीं होते केवल क्षोभको ही करने वाले होते हैं। परम शान्तिका पद वह है जिसके बाद फिर यह जीव लौटता नहीं है। विषयसुखोंको भोगकर यह जीव परिवर्तन भी किया करता है। एक ही इन्द्रियसुखमें एक ही पद्धतिसे लग नहीं सकता, ऊब आ जायगी। खानेका सुख किसीको देना हो तो उसे खिलाते ही जावो, मना करे तो भी उसे डालो, जबरदस्ती खिलावो, तुम्हें खानेका ही तो सुख चाहिए, उसे खाते-खाते ऊब आ जायगी। सभी इन्द्रियोंके विषयकी सुखकी यह बात है कि उस सुखको भोगते-भोगते ऊब आ जायगी, उससे हटना चाहेगा। केवल एक आत्मीय प्रतिभासात्मक आनन्द ही ऐसा आनन्द है कि जिस आनन्दसे ऊब नहीं आ सकती। कोई पुरुष प्रथम ही अभ्यासी हो इस ज्ञान योगका सो उसे भी इस ज्ञानतत्त्वमें बसते हुए ऊब आती है, पर इस ऊबका कारण

ज्ञानमयस्वरूपका अनुभव नही है, किन्तु पूर्व पडी हुई कषाय वासना जो प्रकट हुई है वह कारण है। विषयसुखोमे ऊबनेका कारण उस ही विषयसुखका अनुभव भी हो जाता है, वासना तो ज्ञानयोगके प्रथमाभ्यासीके भी है, पर जैसे जो विषय भोगा जा रहा हो उस विषयका भोग ही ऊबका कारण बन जाता है ऐसा आत्मानुभवकी ऊबमे कारण आत्मानुभव नही है।

उत्कृष्ट पदका निर्देशन– उत्कृष्ट आत्मानुभवका परम पद ऐसा है कि जिसके अनुभवके बाद फिर यह जीव लौटता नही है, ऐसा उत्कृष्ट पद सिद्ध पद है, अरहत अवस्था है जिस निर्दोषताकी प्राप्तिके बाद फिर कभी उसमे दोषता नही आती, कुछ सिद्धान्त है ऐसे जो वैकुण्ठके बाद फिर ससारमे जन्म लेना मानते है। उस सिद्धान्तमे यह माना गया है कि रागद्वेषका मूलमे सर्वथा अभाव हुआ नही करता है, रागद्वेष दूर हो गये, सर्वज्ञात भी हो गए पर उस जीवमे किसी समय रागद्वेष उठ सकते हैं और वे वैकुण्ठसे गिर जाते है। विमानोसे ऊपरके जितने देवोके स्थान है वे वैकुण्ठ माने जा सकते है। नव ग्रैवयके यहा तक तो मिथ्यादृष्टि भी उत्पन्न हो जाते है। नव अनुदिश और पाच अनुत्तर इनमे यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते है लेकिन वे भी तो वहासे चय करके इस मनुष्यलोकमे आया करते हैं। लोकका जो नक्शा है उसमे कण्टके स्थानपर जो रचना है उसे वैकुण्ठ कहते है। वैकुण्ठ और ग्रैवेयक दोनोका एक ही अर्थ है। ग्रीवाका भी नाम कण्ठ है, जिसके ग्रैवेयक शब्द बना और इस कण्ठका नाम कण्ठ है ही। वह परमपद नही है। उत्कृष्ट पद वही है जहाँसे पुनर्जन्म न हो।

मुक्तिविषयक एक जिज्ञासा व समाधान—इस प्रसङ्गमे एक शङ्का प्राय हो जाया करती है कि लोकमे से जो जीव मुक्त हुए है वे तो लौटकर आते नही और मुक्तिका होना बराबर जारी बना रहता है तो कोई समय ऐसा आ जाना चाहिए कि जब ससार खाली हो जाय। क्योकि मुक्तिमे पहुँचे हुए लौटकर आते नही और मुक्तिका होना बराबर जारी चलता है तो वह समय क्यो न आ जायगा कि जब ससारमे कोई जीव न रहेगा? इसके समाधानमे पहला प्रमाण तो यह है कि अब तक ससार खाली क्यो न हो गया! क्योकि अबसे पहिले अनन्तकाल व्यतीत हुआ है, कालपर दृष्टि दो तो पता पडेगा, सीमारहित काल चला आया है। मुक्त होते-होते अबसे भी कितने ही काल पहिले खाली हो जाना चाहिए था। दूसरी बात यह है कि जीवराशि अक्षयानन्त मानी गयी है। अनन्त ९ प्रकारके होते हैं जघन्ययुक्तानन्त, मध्यमयुक्तानन्द, उत्कृष्टयुक्तानन्त, जघन्य परीतानन्त, मध्यमपरीतानन्त, उत्कृष्ट परीतानन्त, जघन्यअनन्तानन्त, मध्यम अनन्तानन्त और उत्कृष्ट अनन्तानन्त। यह जीवराशि अक्षयानन्त है। अनन्तमे भी अनन्त जीव मोक्ष चले जाये तब भी, अनन्त रहे ऐसी राशिको अक्षयानन्त कहते है। इस राशिका जब तक अनुमानरूपसे भी पता न चलेगा कि ये अक्षयानन्त होते हैं जब तक इस जिज्ञासाका समाधान भली प्रकार नही हो सकता है। एक निगोदके शरीरमे अनन्तानन्त जीव बसा करते हैं, अब तक

अनन्तकालमें जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब एक शरीरमें बसे हुए निगोदोंप्रमाण भी नहीं हो सकते।

निर्वाणके बाद पुनर्भवका अकारण -जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित हो गए है, कर्मबंधनका कुछ कारण नहीं रहा, तो कर्मोंके लिए निमित्तभूत कषायभाव न मिले तो कर्म बँध कैसे जायेंगे ? एकबार मुक्त होनेपर यह जीव लौटता नही है। यह संसार तो अनन्तानन्त अक्षयानन्त जीवोंसे भरा हुआ है। यह संसार खाली होता है तो इसकी ओर दृष्टि क्यों होती है कि संसार बनानेके लिए मोक्षसे लौटनेका समर्थन किया जाय या आवश्यक समझा जाय ! यह अभेद आत्मानुभवका एक निरुपम उपाय है जिसके बलसे भव-भवके संचित कर्मोंका विनाश करके यह जीव सर्वथा शुद्ध हो जाता है। परमकल्याण उस अनाकुलताके पदमें ही है।

क्लेशके साधनोंमें अज्ञानीकी आसक्ति भैया ! आकुलताके जितने साधन हैं उन साधनोंमें कुछ हित नही है। किससे सम्बन्ध बढाया जाय, किसको चित्तमें बसाया जाय कि आनेको शान्ति मिले, ऐसा कुछ निर्णय तो बनाओ और प्रयोग करके देखलो। ये संसारी जीव मोहसे दुखी भी होते जाते और उस मोहको छोड भी नहीं पाते। कोई एक बूढे बाबा अपने घरके नाती-पोतोंसे सताये जानेके कारण दुखी होकर रो रहे थे। सडकसे एक सन्यासी जी निकले। रोनेका कारण पूछा --तो उसने बताया कि घरके नाती पोते हमें पीटते हैं। तो सन्यासीने कहा कि हम एक उपाय बतायें, सारा दुःख मिट जायगा। इस बूढेने सोचा कि सन्यासी जी महाराज जरूर ऐसा कोई मत्र तत्र कर देंगे तो ये नाती पोते हमारी हू हजूरीमे रहा करेंगे। सो कहा हां, सन्यासी जी करदो अपना तत्र मत्र। तो सन्यासीने कहा तुम अपना घर छोडकर हमारे संग हो जावो। तो बाबाजी कहते हैं—सन्यासीजी, चाहे वे नाती पोते हमें मारें पीटें, पर वे हमारे नाती ही कहलायेंगे और हम उनके बाबा ही कहलायेंगे। तुम कौन आ गये बीचमें दलाली करने। तो मोहसे दुःखी भी होते जाते और मोह करना ही उस दुःखके मेटनेका इलाज भी समझते जाते। कितनी यह अज्ञानताकी बुद्धि है।

यथार्थ श्रद्धाका प्रसाद भैया ! नही मिट सकता है क्लेश, नही मिट सकता है राग, पर ज्ञानप्रकाश तो यथार्थ रहे कि यह कुमार्ग है और यह सुमार्ग है। कोई मेरे खिलाफ कहता है, इसे मेरे मनके माफिक कहना चाहिए। यह मैं उपयोग अपने ज्ञानस्वभावके अनुकूल रह पाता हूँ अथवा नही, इस ओर दृष्टि देना चाहिए, एतदर्थं चेतन अचेतन परिग्रहोंमें हम आस्था न रखें कि ये मेरे सुखके कारण हैं, सबसे पहली बात यह है, यदि उन चेतन अचेतन पदार्थोंमे अपने लिए सुखकी आस्था रखें, जो बात अनहोनी है उसके प्रति होनेकी कल्पना करें तो वहां कष्ट अवश्यम्भावी है। अनहोनीको अनहोनी समझे और होनी को ही होनी समझे तो कोई कष्ट नही है। मैं आत्मपदार्थं अपने ही परिणामोसे उत्पन्न होता हूँ सदैव उस हीमे रहूँगा, मैं किसी

अन्य पदार्थके परिणमनसे उत्पन्न नही हो सकता, अन्य जातिके पदार्थोंसे तो उत्पन्न ही क्या होऊँगा ? जो अनहोनी है वह सदा अनहोनी रहता है, कोई पदार्थ दूसरे पदार्थके परिणमनरूप नही हो सकता है अन्य पदार्थसे मेरा सुखपरिणमन नही होता। इस परमपदकी प्राप्तिके लिए प्रथम तो यह आवश्यक है कि हम परपदार्थोमे सुखकी आस्था न बनाएँ। परमात्मतत्त्वकी ओर हमारी दृष्टि हो, जो निर्दोष सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं उनके गुणोमे अनुराग हो तो इसे शान्ति होगी।

जो होता है वह भलेके लिये—भैया ! जो होता हो होने दो, जो होता है वह भलेके लिए ही होता है, सत्त्व रखनेके लिए ही होता है। होनेको था सो हो गया यह मेरे भलेके लिए ही है मेरे बुरेके लिए कुछ भी नही होता। एक बादशाह और मत्री थे, वे दोनो जङ्गलमे घूमने जा रहे थे। जङ्गलमे भटक रहे, अपना मन रमानेके लिये परस्परमे कुछ वार्ता करने लगे। बादशाह था ६ अगुलिका जिसे छिगा कहते हैं। बादशाहने पूछा मत्री जी, हम ६ अगुलिये हुए हैं सो यह कैसा है ? मन्त्री बोला— महाराज, यह भी भलेके लिए है। उस मन्त्री की आदत थी हर बातमे वह यही कहे कि यह भी भलेके लिए है। बादशाहको गुस्सा आया कि मैं तो छागा हूँ और यह बोलता है कि यह भी भलेके लिए है। सो उसने मत्रीको कुएँमे ढकेल दिया और वह बादशाह आगे बढ गया। दूसरे देशके राजाके यहा नरमेध यज्ञ हो रहा था जिसमे एक बडे सुन्दर हृष्ट-पुष्ट मनुष्यको होमनेकी जरूरत थी ऐसा कोई पाप यज्ञ था बुद्धि ही तो है जिस ओर जिसकी लग जाय। राजाने कुछ पडोको छोड दिया कि ऐसे पुरुषको कहीसे पकडकर लावो। उन पण्डोको यह बादशाह ही दीख गया —बडा सुन्दर हृष्ट-पुष्ट वह था ही। सो उसे ठोक पीटकर पकडकर ले गए और एक खूँटेमे बाध दिया। जब यज्ञमे वह बादशाह होमा ही जाने वाला था कि एक पण्डाने देख लिया कि उसके तो ६ अगुलिया हैं एक हाथमे सो कहा कि इसे मत होमो, नही तो यज्ञ खराब हो जायेगा ! उसे डडोसे मारकर भगा दिया।

भलेके लिये होनीका पुन समर्थन—अब बादशाह बडा खुश हो रहा है कि एक हाथमे ६ अगुली होनेके कारण आज मैं बच गया, नही तो आज प्राण चले जाते। साथ ही उसने सोचा कि मत्री ठीक ही कहता था कि ६ अगुलिया है तो यह भी भलेके लिए है। वह खुश होता हुआ उसी जङ्गलमे आया जहा मन्त्रीको कुएँमे ढकेल दिया था। झट कुएँके पास आकर मत्रीको निकाला और सारा किस्सा कह सुनाया। कहा —मन्त्री तुम ठीक कहते थे कि ६ अगुलिया हैं सो यह भले के लिये है, यदि ६ अगुलिया न होती तो आज मेरे प्राण न बचते, पर मत्री ! यह तो बताओ कि मैंने जो तुम्हे कुएँमे ढकेल दिया वह कैसा ? तो मत्री बोला महाराज ! वह भी भलेके लिए हुआ। पूछा कि इसमे कैसा भला ? सो मन्त्रीने कहा महाराज ! यदि मैं कुएमे न होता तो मैं भी आपके सङ्गमे पकडा जाता। सो आप तो बच जाते छिगा होनेके कारण और मैं ही आगमे होमा जाता, मै कुएँमे गिर गया इसलिए बच गया।

गया है, जो कुछ होना है उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो। उस वस्तुकी सत्ताके लिए वस्तुका परिणमन चल रहा है उसके ज्ञाता ही रहो। ऐसी शुद्ध ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति हो तो वहा शुद्ध ध्यान प्रकट होता है, जिसके प्रतापसे शाश्वत परमानन्द प्राप्त होता है।

०

अयत्नसाध्य निर्वाण चितत्त्व भूतज यदि।
अन्यथायोगतस्तस्मान्न दु ख योगिना क्वचित्॥ १००॥

चेतनाको भूतज माननेपर निर्वाणकी अयत्नसाध्यता व व्यर्थताका प्रसग कोई पुरुष इन आत्माको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार तत्त्वोरूप मानते हैं आत्मा इनसे पृथक् कुछ नही है। जब तक इन चार तत्त्वोका विधिवत् मेल रहता है तब तक यह जानना समझना बना रहता है और जब ये चारो तत्त्व बिखर जाते हैं, परस्परका सम्बध तोड देते हैं तो जानना समझना नही रहता है, यह सब चारो तत्त्वोंकी बात है आत्मा अलगमे कुछ नही है, ऐसा एक सिद्धान्त है। उनके मतमें तो निर्वाण बडा सरल है, मर गए और मोक्ष हो गया क्योंकि भूतचतुष्टयरूपका शरीर है, बिखर गया निर्वाण हो गया। कुछ यत्न ही नही करना पडा। क्या ऐसा निर्वाण है? कुछ लोग इस आत्माको सदा मुक्त मानते हैं। जो आत्मा है वह तो ज्योका त्यो ही है। किन्तु प्रकृति और पुरुषका सम्बध होनेसे एक केवल भ्रम ही रह गया है। आत्मा तो मुक्त ही है, शुद्ध ही है ऐसा भी एक सिद्धान्त है। तो जो मुक्त है स्वय ही उसको मुक्त करनेकी कोशिश करना व्यर्थ है, छूटा ही है वह, फिर मुक्तिका उद्यम क्यो किया जाता है।

निर्वाणकी यत्नसाध्यता स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार यह आत्मा स्वरूपसे तो स्वभावत एक स्वरूप है, सदामुक्त है, किन्तु उसकी जो वृत्ति बन रही है वह वृत्ति ससारी है, वहाँ मुक्ति नही है। जैसा परिणाम है वैसा ही भोग भोगना पडता है। यह ससार वृत्ति न हो तो मुक्त होनेका उद्यम क्यो किया जाय। तथा स्वभाव यदि मुक्तका नही है तो मुक्त हो ही नही सकेगा, फिर तो मुक्त होनेका उपाय भी बिल्कुल व्यर्थ हो जायगा। आत्मतत्त्व यद्यपि एक चैतन्यस्वरूप नित्य पदार्थ है, परन्तु अनादि कालसे कर्म पुद्गलके सम्बन्धमे विभावरूप परिणमता चला आ रहा है। इसका स्वभाव तो सदा ज्ञानप्रकाशमय रहनेका है, परन्तु वृत्तिमे रागद्वेष मोह भी चल रहे हैं तो यह सब कर्म उपाधिके सम्बधका प्रताप है जिसके कारण यह जीव अपने स्वरूपमे स्थिर नही हो पाता है वृत्ति ससारी है परन्तु स्वभाव सबसे विविक्त केवल रहनेका है इसी कारण ध्यान आदिकके प्रयत्न किए जानेसे ये विभाव परिणतियाँ दूर हो जाती हैं और स्वभाव विकासपूर्ण प्रकट हो जाता है। जहा दोष एक भी न रहे गुणोका पूरा विकास हो उसे निर्वाण कहते हैं। निर्वाणमे जो आनन्द है उस आनन्दको विषय का मोही जीव रच भी नही पहिचान सकते।

यथार्थ ज्ञानसे ही पथलाभ —भैया, यह संसार विकट जाल है। यहाँ मोही जीवोका ही समागम बना हुआ है। एक दूसरेकी वृत्ति देखकर ललचाया करते हैं, मैं भी ऐसा क्यो न हो गया। अपने स्वरूपको भूल जाते हैं दुखी रहते है। इसके अलावा सबसे विकट समस्या यह है कि गल्ती भी करते जाते और चतुराई भी मानते जाते ये प्राणी, सो बतावो ये गल्ती कैसे मिट सकती है। गल्तीको गल्ती समझे तो मिट सकती है। यह मोही जीव विषय वासनामे रत हुआ नाना विरुद्ध परिणतियाँ करता है और उनमे ही यह मानता है कि मैं बडा हुशियार हूँ। देखे मैंने दूसरोको कैसा धोखा दिया और अपना काम कैसे बना लिया। कर रहा है यह गल्ती, स्वभावसे विमुख हो गया है, शान्तिका पात्र नही रहा है, व्यर्थकी कल्पनाएँ बना रहा है तिसपर अपनेका चतुर समझता है जब तक स्याद्वादका आश्रय न करे, तब तक वस्तु स्वरूप को सही नही जान सकते हैं। जब वस्तु स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान ही नही है तो परम कल्याण कैसे प्राप्त कर सकते है।

लोकायतिकतासे सिद्धिका अलाभ—अहो, जो चीज आखों दीखती है उस पर लोगोको बडा विश्वास है। यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व तो आखो नही दिखता, इस कारण उसकी ओर विश्वास नही होता, परन्तु है कितनी मोटी समझकी बात। अरे जो जान रहा है वह कुछ नही है क्या ? लेकिन विषयव्यामोहमे जो दृश्यमान है, वही सब कुछ लगता है, इस दीखती हुई दुनियाको ही जो सब कुछ मानता है उसे चार्वाक कहा गया है। चार्वाकका यह भी अर्थ हो सकता है कि जो चारु वाक सुने, बोलाकरे, जो बात लौकिक जनोको बडी भली लगे ऐसे चातुर्यकी सुन्दर बात बोले उसे चार्वाक कहते हैं। जगतके जीवोको सुन्दर बात रागभरी बात ही लगती है। रागभरी बात इस दृश्यमान जगतको ही जो लक्ष्यमे रखते है उनके ही लगती है। यह दृश्यमान ही सब कुछ होता और आत्मतत्त्व कुछ नही होता, तो दृश्यमान तो नष्ट होता ही है। शरीर नष्ट हुआ मरण हुआ तो वहो निर्वाण न बनगया, सो यो तो सब का निर्वाण होता है और ऐसे निर्वाणको कौन चाहेगा कौन ऐसा बुद्धिमान है जो स्वय ही अपने नाशका प्रयत्न करे। मरणमे नाश ही तो हो गया।

आत्माको सर्वथा निर्लेप माननेमे भी मुक्तिका अनवकाश एक ओर तो चार्वाकके सिद्धान्तको मानने वाले जो शरीरसे न्यारा अपने आपका सत्त्व ही नही समझते है, दृश्यमानको ही सर्वस्व समझते हैं और दूसरी ओर वे जो इसके मुकाबले कोई अपनेको बडा विवेकी कहलानेके लिये तत्त्वज्ञानका ऐसा बढावा दे जो सीमा तोड बन बैठे याने आत्माको शुद्ध बुद्ध सदामुक्त माना करे दोनोके ही निर्वाण नही है। जब यह शुद्ध बुद्ध ही हो गया तो फिर ध्यान आदिक करनेके लिए क्यो उद्यम किया जाय, फिर तो मुक्तिका कोई विधान ही न होना चाहिये। जो अचेतन है उसको मुक्ति दिलानेसे लाभ क्या, और जो चेतन है वह तो पहिलेसे ही मुक्त है, फिर मोक्षमार्ग तो कुछ भी न रहा। इन दोनो बातोका निवारण स्याद्वादसिद्धान्तमे मिलता है। आत्मा

मुक्त होनेका स्वभाव रखता है और उपाधिके सम्बन्धमे ससारी वृत्तिमे लग रहा है। यह आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके बलसे शुक्लध्यानके प्रतापसे विभाव परिणतियोको त्यागकर स्वसम्वेदनके योगाभ्याससे शुद्धस्वरूपमे स्थिर हो सकता है इस ही का नाम है निर्वाण।

आश्रेय तत्त्वकी मार्गणा — भैया! निर्णय करलो कि अपना चित्त कहा लगायें कि कुछ धोखा न रहे और वास्तविक आनन्द प्राप्त करलें। इस जगतमे खोजो अपनी बात किस जगह अपना चित्त लगायें, कुटुम्बमे चित्त लगाये तो प्रथम तो यह कुटुम्ब भिन्न है। उनके परिणमनसे मेरा कुछ नही होता, मेरे परिणमनसे उनका कुछ नही होता। मैं सुखी दुखी अकेला ही होता हूँ। शुद्ध अशुद्ध जो कुछ हुआ करूँ वह अकेला ही होऊँगा। किसमे चित्त लगायें अचेतन जड परिग्रहोमे चित्त लगानेसे लाभ क्या है? वे तो जड है, भिन्न है, मुझे कुछ प्राप्त नही होता किसी भी अन्य पदार्थमे चित्त लगानेमे। खूब खोजते जावो। कमसे कम इतनी समझ बन जाय कि दुनियामे कोई भी पदार्थ चित्त लगाने लायक नहीं है, और ऐसा ही उद्यम करे कि किसी भी बाह्य पदार्थमें अपना चित्त न लगायें तो सहज ही वह ज्ञानज्योति प्रकट हो जाती है जिसमे चित्त लगानेसे ससारके समस्त सकट टल जाया करते हैं।

अन्तर्दर्शनमे स्वाभाविक आनन्दका लाभ — योगी पुरुषोका चित्त इस आनन्दमय आत्मस्वरूपमे रहता है इसी कारण उनके ध्यान साधनाके कालमे किसी तिर्यञ्च मनुष्य इत्यादिके द्वारा उपसर्ग हो तो भी कही भी उन्हे रच दुख नही होता है क्योकि आनन्दमय आत्मस्वरूपको तो ग्रहण कर लिया ना। इस लोकमे हम आप का कही कोई शरण नही है। एक आनन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्वका आलम्बन ही वास्तविक शरण है जितना उद्यम श्रम बाह्य दृष्टि बनाकर किया करते हैं उसका हजारवा भाग भी ध्यान श्रम अपने आत्मस्वभावकी ओर लगाये तो यह कल्याणमय आत्मा अपने आपपर प्रसन्न हो जायगा, फिर कोई सकट नही रह सकता। समट शरीरकी परिस्थितिमे नहीं है किन्तु अपने अन्तरके उपयोगकी बहिर्दशामे हैं, हम कैसा उपयोग करें कि दुखी हो जायें, कैसा उपयोग करें कि सुखी होजायें जिनका चित्त बाह्य सम्पदावोमे अटका हुआ है उन्हें शान्तिसे भेट नही हो सकती। जिनका चित्त परतत्त्व की दीवालोको पार करके शुद्ध सहज आनन्द स्वरूपमे रमता है उनके आनन्द सहज ही प्रकट होता है। ऐसे योगी पुरुषोको ध्यानसाधनाके कालमे भी-चूकि वे अपने सत्यका उद्देश्य लिये हुये है अत किसी भी प्रकारका कष्ट नही होता।

ज्ञानियोका स्वाधीन आनन्द — अज्ञानी जीव तो गद्दा तक्कोपर पडा हुआ भी दुखी हो रहा है। और ज्ञानी पुरुष घोर जगलमे कैसी ही सर्दी गर्मीमे बसा हुआ भी सुखी रहता है, क्योकि सुख और दुखका आधार ज्ञानकी कला है, बाहरी पदार्थों की परिस्थिति नही है। किसी मनुष्यके घरमे लाखोका धन गडा हो और उसे पता नही है तो उस धनके निकट बस कर भी वह गरीबीका अनुभव करता है, वैसा ही

दु खी होता रहता है। जब उपयोगमे ही अपनी निधि नही है तब यह दीन ही तो है, ऐसे ही आनन्द वरूप ज्ञानप्रकाशमात्र अपना आत्मा जिसके अनुभवमे नही है वह बाहरी ही बाहरी पदार्थोंसे भीख मागकर आशा लगाकर अशान्ति ही प्राप्त करता है। शान्ति वहाँ नही हो सकती है।

विवेकियोका अन्तर्निर्णय यह ससार अज्ञानका घर है, इसमे दूसरोका वोट ले करके न्याय नही बन सकता है। किसमे सुख है वोट ले लो सबका। उल्टी राय ही प्राय सबकी मिलेगी, सही बहुमत नही मिल सकता। करोडो अज्ञानियोकी सगतिकी अपेक्षा एक ज्ञानीकी सगति लाभदायक है। अज्ञानी पुरुषोकी वोटोसे अपने कल्याणका निर्णय नही हो सकता। ये सब स्वप्नकी दशाएँ हैं। मोहकी नीदमे जो यहा सब कुछ निरखा जा रहा हो कि यह मैं हूँ। शरीरको ही लक्ष्यमे लेकर इस अज्ञानीने मैंकी व्यवस्था बनाली है और दूसरे जीवोमे भी शरीरको लक्ष्यमे लेकर मैंकी व्यवस्था बनायी है, सर्वत्र किसी न किसी परकी व्यवस्था बनायी है। जिसे सुखी होना है उसका ही पता नही है तो सुखी किसे करोगे जिसे भीख देना है वही नही दीख रहा है तो भीख किसे दोगे। जिसे सुखी करना है उसका तो सही पता हो। और जिसे सुखमे सुखी करना है उस आनन्दका भी सही पता हो। व्यामोही पुरुषो को न तो उसका ही पता है जिसको आनन्द देना है और न आनन्दका। यो भ्रमवश किसीको मानलें, वह तो उनकी कल्पना है। न तो उन्हे प्रयोजकका पता है और न प्रयोजनका पता है कि हमे कैसा आनन्द चाहिये। जब तक आत्माका और आनन्दके स्वरूपका यथार्थ निर्णय न हो तब तक इसको आनन्द प्राप्त हो ही नही सकता है।

ज्ञातृतामे पारमार्थीकी प्रसन्नता—ज्ञानी जीव सदा प्रसन्न रहता है। इसका कारण यह है कि वह सबका मात्र ज्ञाता दृष्टा रहता है, जो केवल जानन देखनहार रहे उसे आपत्ति नही है। यह ससार अजायब घर है। अजायब घरमे अजबर ही चीजें हुआ करती हैं। वहा जो दर्शक जायें उन्हे केवल देखनेका अधिकार है, छूने का अधिकार नही है। कोई छुये तो उसे दड भोगना पडता है। ऐसे ही इस लोकमे यह सब दृश्यमान अजायब घर है। कुटुम्ब परिवार धन वैभव ये सब अजायब घरकी वस्तुयें हैं। उन्हे केवल जानते देखते रहा तो कोई आपत्ति नही है, किन्तु जब जानन देखनहार न रहकर उनमें राग और द्वेष करते हैं उन बाह्य पदार्थोंको छूते है तो छूने वालोको दड मिलता है, भव भवमे भटकना पडता है, आकुलित होना पडता है। इस आकुलताको दूर करना है तो ममता छोडो, अपने आपके सहजस्वरूपमे आवो तो इस शुद्ध प्रयत्नसे ही सब सङ्कट दूर हो सकते हैं। यो स्याद्वादसे आत्मतत्त्वकी व्यवस्था करे और बाह्यसे हटकर अत स्वरूपमे लगें यही विधि ही ससारके सकटोसे बचाने मे कारण है। सदा शुद्ध अनादि अनन्त इस ज्ञायकस्वरूपकी भावना रखना चाहिए, कि मैं तो यह ज्ञानस्वरूप हूँ, सर्व परभावोसे न्यारा हूँ।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मन ।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषत ॥ १०१ ॥

आत्माकी अविनाशताका कथन—पूर्व श्लोकमे दो पक्ष रखकर यह कहा गया था कि यदि कोई आत्माका जुदा अस्तित्व नही मानता है, केवल इस भौतिक शरीरको ही सब कुछ जानन देखनहार मानता है उसके भी निर्वाण नही है, क्योकि शरीर तो नष्ट हो जायगा । क्या शरीरके नाशका ही नाम निर्वाण है ? मरणका ही नाम निर्वाण है क्या ? दूसरे पक्षमे कोई यह मानते थे कि आत्मा तो अपरिणामी है, व्यापक है, सदामुक्त है । उस सिद्धान्तमे फिर मोक्ष मार्गके विधानकी आवश्यकता क्या है ? इन दोनो पक्षोको रखकर स्याद्वाद सिद्धान्तसे नित्यानित्यात्मक स्वतन्त्र सत्तावान आत्मतत्त्वको सिद्ध किया था । उस बातको सुनकर लोग शीघ्रतामे यह सोच सकते हैं जैसे कि आम लोगोंके ख्याल भी हो जाता है कि आत्मा कहाँ रहता है आगे, मर गये, शरीर जला दिया, फिर रहा क्या ? उसके समाधानमे यह श्लोक कहा जा रहा है ।

मोहमे आत्मनाशका भ्रम—देखो भैया ! जब नीदमे कोई स्वप्न आजाता है और मानलो ऐसा ही स्वप्न आ जाय कि हम बडे कठिन बीमार हैं, वैद्य नाडी देख रहा है, नाड़ी खतम हो गयी है, हम मर गए हैं ऐसा स्वप्न दीख सकता है कि नही ? जङ्गलमे कही भ्रम गए, कोई सिंह आ गया, मेरे शरीरका विदारण कर दिया, हम मर गए, ऐसा भी स्वप्नमें देखा जाता है ना, तो ऐसा देखे जानेपर भी क्या वह मर गया ? नीद खुलती है तो देखता है अरे मैं कहा मरा ! मैं तो आरामसे कमरे मे पडा हूँ । तो जैसे स्वप्नमे अपने मरनेका दृश्य दीख जाय तो वह भ्रमरूप है, सही बात नही है, वह तो अभी जिन्दा है, नीद खुलनेपर तो अपनेको वह जिन्दा पाता है । मैं कहा मरा, केवल एक स्वप्नमे ही मर गया था । तो जैसे स्वप्नमे दुखी होना, मरना भ्रम ही है, वास्तवमे नही है, वह तो सुरक्षित है ऐसे ही इस जगते हुएमे याने इन आखोसे जो देखा जाता है कि यह मर गया, अब कुछ नही रहा, यों जीवका मरण देखना यह भी भ्रम है । आखके जगते व सोतेके दोनो ही दृश्योंके भ्रम समान हैं । आँखकी नीदमे मरता दीख गया तो जैसे वह भ्रम ही है ऐसे ही मोहकी नीदमे अपने आपके स्वरूपका परिचय न होनेसे जो यहा मरना देखा जाता है वह भी भ्रम है ।

मोहनिद्राके भङ्ग होनेपर भ्रमका परिहार- भैया ! और भी देखिये, जिस समय स्वप्नमे मरण देखा जा रहा है उस समय क्या ऐसा भी लगता है कि यह भ्रम ही है, हम मर नही गये ! स्वप्नमे तो जो देखा जाता है वह बिल्कुल सच्ची घटना लगती है । यह भ्रम था इसका ज्ञान तो जग जानेपर होता है । जब नीद खुल गई तब ख्याल होता है ओह ! मैं स्वप्नमे देख रहा था, जो भी स्वप्नमें देख रहा था वह भ्रमरूप था, मैं तो जिन्दा हूँ, कहाँ मरा ! ऐसे ही जब तक अज्ञान है, निज स्वतंत्र सत्ताका परिचय नहीं हैं तब तक यह जीवन और मरण देखना यह भी सब

लगता है। यह जिन्दा तो हुआ है, यह मर तो गया है, कैसे इसे झूठ मानले। अब कुछ नही रहा, कहा है आत्मा आज निकल गया। मोहकी निद्रामे ये सब पर्यायबुद्धि की बाते सही लगती है, भ्रम नही लगती है। ये सब बातें भ्रमरूप तो तब विदित होती है जब यह जग जाय अर्थात् मोहनिद्रा भङ्ग होती है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिचय होता है तब विदित होता है ओह! यह सब मैं भ्रम ही कर रहा था। मैं तो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप हूँ।

सर्व पदार्थोकी शाश्वतता जगतमे जितने भी पदार्थ है वे समस्त पदार्थ शाश्वत है। न कोई पदार्थ नया बनता है और न कोई पदार्थ अपना सत्त्व छोडता है। जितने जीव है उतने ही हैं। हैं अक्षयानन्त। जितने पुद्गल अणु है वे उतने ही है। वे भी अक्षयानन्त है। धर्म, अधर्म, आकाश एक ही एक हैं और कालद्रव्य असख्यात है। जितने भी पदार्थ हैं उनमेसे न एक कम होता है, न एक कभी ज्यादा हो सकता है, कोई पदार्थ ज्यादा कैसे हो सकेगा? कुछ भी नही है और कुछ हो जाय, यह कैसे सम्भव है। कुछ भी हो कोई तो उसका उपादान होगा ही जिसमे कि कुछ हुआ है। नया कुछ नही हुआ अर्थात् असत् सत् नही बन सकता, और जो कुछ है उसका विनाश कैसे होगा? जो सत् है वह कुछ भी न रहे ऐसा कैसे किया जा सकता है। कोई लकडीका ठूठ वजनदार है, मानो दो मनका है, उसे जला दिया जाय तो जल जानेपर कहो दो ही किलोका वजन रह जाय। कुछ धुवामे उड गया, कुछ भस्म भी वह गयी और कभी कुछ भी न रहे, सब उडकर बिखर जाय, कुछ पता ही न चले ऐसी स्थिति मे भी उस ठूठमे जितने परमाणु थे उनमेसे एक भी कम नही हुए। भले ही वे बिखर जायें धुवारूपमे, भस्मरूपमे, कैसी ही हालतमे हो जाएँ पर उनमे कमी नही आसकती।

सत्के विनाश और असत्के उत्पादकी असम्भवता - भैया! सोचो तो सही, सत् कैसे असत् बन जायगा और असत् कैसे सत् बन जायगा? यदि कोई असत् भी सत् बन जाय याने जो कुछ भी न हो उपादानमे भी, वह भी कुछ बन जाय तो अगर यहा दस-बीस शेर, चीता, हाथी आ पडे तो उन्हे कौन रोक सकता है? क्योकि न कुछसे कुछ होने लगा, सदा शङ्का रहेगी। कोई ऊपरकी छतपर आकाशसे वजनदार हाथी टपक जाय तो क्या हाल हो? तो ऐसा नही होता, असत् कभी सत् नही होता और सत् कभी असत् नही होता है। अपने आपके आत्माके सम्बन्धमे भी सोचो कि यह मैं कुछ हूँ या नही। यदि मैं कुछ न होऊँ तो यह तो बहुत ही बडी अच्छी बात है। मैं कुछ भी न होऊँ, असत् रहा तो फिर क्लेश कहाँ पैदा होगे? यह तो सङ्कटोको मिटानेकी बडी बढिया बात सुनाई कि मैं कुछ हूँ ही नही। यह बोलता तो है ना, कि हम है। जिसमे अहं प्रत्यय हो रहा है, मैं हूँ ऐसी जिसमे समझ हो रही है वह कोई एक स्वतन्त्र सत् है। शरीरमे समझ नही होती। मैं नही हूँ ऐसा तो है ही नही। मैं जड हो जाऊ ऐसा भी नही है। चैतन्यस्वभावी तत्त्व कभी जड नही हो सकता और जडस्वभावी तत्त्व कभी चेतन नही हो सकता। कल्पना कुछ ही करलो।

कल्पनासे वस्तुस्वरूपपरिवर्तनका अभाव— एक कुछ पुरानी बात है हमारी ६।। वर्ष की उमर होगी, तबकी बात है --जिस पाठशालामें गावमें मैं पढता था वहा एक दिन दो लडके बहुत बुरी तरहसे पिटे। मास्टरने पीटा, तो देखकर फिर हम दूसरे दिन पाठशाला न गये। एकको पिटते देखकर भय हो ही जाता है हालाकि गल्ती निकले तभी तो पिटे, पर उस दिन डरके मारे हम पाठशाला न गये। तो मास्टरने चार बच्चोंको भेजा कि उसे लिवा लावो। अब सुबहका टाइम था, पराम्ठा और मठा मैं खा रहा था, लडकोंने मांसे शिकायत की। मांने कहा जावो जल्दी पाठशाला ! तो हमने कहा कि आज तो हम नही जायेंगे। मांने एक दो थप्पड लगाए। मैं रोता जाता और सोचता जाता कि यदि मैं यह काठका खम्भा होता (जिससे मक्खन बिलोया जाता है) तो मैं न पिटता। काठके खम्भेको कोई कहाँ पीटता है ? तो वह तो एक कल्पना थी। न कोई जड कभी चेतन होता और न चेतन कभी जड होता। कैसे हो, चैतन्यस्वभावी तत्त्व कभी जड नहीं हो सकते और जड-स्वभावी तत्त्व कभी चेतन नहीं हो सकते। कल्पनामें कुछ भी ले आयें। फिर भी जो लोग यो सोचते हैं कि यह मर गया, कुछ नही रहा, खतम हो गया, वह भ्रम है।

प्रेमकी समस्या—सच तो बात यह है कि परिवारके लोग, मित्रजन किनसे प्रेम करते है ? किसीसे भी नही ! वे केवल अपने कषायसे प्रेम करते हैं। सब अपनी अपनी बात सोच लो। क्या कोई कुटुम्बी मुझसे प्रेम रखता है ? अपने आपमें सोचिये ! यह 'मैं' दो प्रकारसे कहा जा सकता है—एक तो शरीररूप जिसे दुनिया समझती है और एक चैतन्यस्वरूप, जिसे ज्ञानी ही समझता है। ये कुटुम्बके लोग इस शरीरसे प्रेम करते हैं या उस आत्मासे प्रेम करते हैं ? पहिले विश्लेषण करके इसका निर्णय बताओ ! कुटुम्बी जन यदि शरीरसे प्रेम करते हैं तो मरनेपर क्यों सोचते हैं कि इसे तुरन्त जलावो, देर हो रही है, घर खराब हो जायगा, यह देर तक रहेगा तो न जाने कैसा विष घरमें फैल जायगा। क्यों ऐसा सोचते हैं ? अरे कुटुम्बी जनो ! इस शरीरसे तुम बडा प्रेम करते थे, यह शरीर पडा तो है क्यो नही प्रेम करते ? कुटुम्बी लोग शरीरसे प्रेम नही करते, तो क्या आत्मासे प्रेम करते हैं ? वे आत्मासे भी प्रेम नही करते ! आत्मस्वरूपकी ओर तो उनका लक्ष्य ही नही है, इस मुक्त आत्मासे वे क्या प्रेम करेंगे। तो न उन्होंने शरीरसे प्रीति की और न आत्मासे प्रीति की। जिसको आत्मा लक्ष्यमे आ जायेगा वह एक ही आत्मासे क्यो प्रेम करेगा ? वह तो सभी आत्माओसे प्रेम करेगा !

प्रीतिकी अतथ्यता—देखो भैया ! परिजनो ने आत्मासे प्रीति करनी सोची होती तो जिसमे आत्महित होता हो वह ही क्यो न करते। कभी किसी बालकका कुछ ज्ञानकी ओर चित्त जाय, वैराग्यकी ओर चित्त जाये तो उससे उस आत्माका भला होगा ना, किन्तु नही ऐसा होने देते। ऐसे उपाय रचते हैं कि वह शादी करले, घरमें फँसे, ज्ञान न सीखे। अरे यह लडका महाराजके पास ज्यादा न बैठे, साधु संगतिमे अधिक न रहे, कही ऐसा न हो कि चित्तमे आ जाय और घर छोडदे तो मेरा घर ही

मिट जाय। क्या कोई पिता अपने पुत्रके प्रति ऐसा भी कुछ प्रोग्राम सोचता है कि इसे धर्म विद्या पढ़ावो। यह आत्माके स्वरूपको ठीक पहिचान जाय, आत्मदृष्टि कर ले। इस जीवका कहीं कुछ है ही नहीं, फिर क्यों इसकी बहिर्मुखी दृष्टि बनी। यह संसारमे न रुले, मोक्षमार्ग प्राप्त करले। इसका विवाह न करेगे। इसे खूब ज्ञान और वैराग्यमे लगायेगे ऐसा किसी बापने पुत्रके प्रति चिंतन किया है क्या ? चाहे न ऐसा कर पावे, बहुत सी बाते मं चता है पिता और उन्हे नही कर पाता, पर सोचता तो है। कोई भी न किसीके आत्मासे प्रेम करते हैं और न शरीरसे। सच तो यह है कि वे अपने आपमे उठी हुई कषायसे प्रेम करते है और उस कषायमे जो वेदना होती है उसे शांत करनेका उद्यम करते हैं पर इस तथ्यको नही जानते तो किसीपर तो बात फेंकी जायगी ? किसपर बात फेंकी जाय। जो उस कषाय वेदनाके शान्त होनेके विषयभूत पडे उसपर आक्षेप किया जायगा।

व्यवहारकी मायारूपता—यह सब व्यवहार मायारूप है। यो समझ लीजिये कि जैसे स्वप्नमे दीखे हुए दृश्योमे सार नही है, केवल कल्पना जाल है ऐसे ही खूब खुली आखोंमे, चतुराई भरे मनमे भी जो व्यवहार किया जाता है वह सब थोता है, असार है, भ्रमरूप है। अज्ञानी करे क्या, स्वप्नमे भी तो यह बुद्धि नही बन पाती कि जो मैं स्वप्नमे देख रहा हूँ वह सब भ्रम है और कदाचित् ऐसा भी ख्याल आये स्वप्नमे कि यह भ्रम है तो यह ख्याल भी भ्रमरूप ही है। वह है १०, २० मिनटका दृश्य और यह है १०, २०, ५० वर्षका दृश्य सब दृश्यमान पदार्थ मायारूप हैं। प्रत्येक पदार्थ अविनाशी है, ध्रुव है। पदार्थोंकी पर्याय पलटती रहती है किन्तु पदार्थका विनाश नहीं होता। यह जीव आज मनुष्य भवमे है, कल अन्य भवमे है पहिले अन्य भवमें था, यो पर्याय अनादिसे पलटती चली आयी है पर यह जीव नही पलटा अर्थात् यह चेतनसे अचेतन नही होता और न इसका अभाव होता। ये दोनो ही भ्रमरूप हैं, और इस जीवनमे जो दूकान हैं, काम है, परिजन है, जिनको खूब सम्हाल रहे है, धन का संचय कर लेनेपर अपनेमे बड़प्पन अनुभव कर रहे है, ये सब स्वप्नकी तरह भ्रमरूप है। जब यह जीव जग जायगा अर्थात् अपने सहज स्वरूपका परिचय कर लेगा तब पता पड़ेगा कि ओह मैंने सारा भ्रम ही किया था।

निज सहज स्वरूपकी दृष्टिमे आत्मलाभ— जब तक मोह निद्रा भग नही होती, परमार्थभूत आत्मतत्त्वका परिचय नही होता तब तक ही यह सब सही दीखता है, बात बातमे लड़ाई, अन्याय, पक्षपात, मायाचार ये सब किस कारण हो रहे हैं ? अज्ञानके कारण, ज्ञानी पुरुष तो सर्वत्र यो देख रहा है कि जो होना है हो रहा है। कही भी कोई कुछ होता हो उसके कुछ होनेमे मेरेमे कुछ सुधार बिगाड है क्या यह तो आत्मा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है। जितना है उतना ही यह शरीर छोडकर चला जायगा। और जब इस शरीरके अन्दर है तब भी यह आत्मा केवल अपने स्वरूप मात्र है परमाणु मात्र भी मेरा यहाँ कुछ नही है किन्तु यह बहुत बड़ा

मझूट है जीव।र जो यह ऐसी श्रद्धा बनाए है कि मेरा यह घर है, मेरा यह परिवार है। यह अज्ञानकी बात बडी सस्ती लग रही है किन्तु यह बहुत महगी पडेगी। यह समझ रहा है चातुर्य, पर कट रही है इसकी जड। इसके स्वरूपपर हो रहा है कुठाराघात, कोई चीज सस्ती ले आये तो वह खोटी बनेगी सभी तो चतुर है। इस अज्ञानी जीवको ये भोग भोगनेमे बडे आसान लग रहे है, उदय है ना, घर हमारा है, स्त्री हमारी है, बच्चे हमारे है, यो बडे सरल सस्ते लग रहे है। मन चाहे कर्म करनेमे, मनमाने भोग भोगनेमे, जिस पर चाहे हुकूमत करनेमे इसको बहुत मौज आ रहा है, सब करनी इसे सस्ती लग रही है, किन्तु क्या हो रहा है अन्तरमे ? कर्मबध पाप बन्ध, मलिन परिणाम, अज्ञानका बोझा। इनका फल क्या मिलेगा नही ? अवश्य मिलेगा। ये सब भ्रमरूप है, अपने स्वरूपपर दृष्टि दो और कल्याणके मार्गमे लगो यही एक सारभूत कर्तव्य है।

अदु.खभावित ज्ञान क्षीयते दु खसन्निधौ।
तस्माद्यथाबल दु खैरात्मान भावयेन्मुनि ॥ १०२ ॥

तपश्चरणके लिये सकारण अनुरोध – गत प्रसगमे यह बात चल रही थी, कि आत्मा अनादिनिधन है, यह केवल भावना ही कर सकता है और उस भावनाके प्रसादसे यह परमात्मत्वको प्राप्त कर लेता है। इसपर यह शका होना प्राकृतिक है कि जब केवल आत्माकी भावना करनेमे ही मुक्ति मिल जाती है फिर उपवास करना तपस्या करना ये कठिन कठिन काम करनेकी क्या आवश्यकता है ? उसके ही समाधानमे इस श्लोकमे कहा गया है कि जो ज्ञान बिना क्लेश सहे आराममे प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान दु खके कारण छूटनेपर नष्ट हो सकता है। इस कारण योगी पुरषो को अपनी शक्तिके माफिक अपनेको तपस्यामे लगाना चाहिए।

यथाबल क्लेशभावनाका हेतु – यहाँ यह बताया है कि मुनि यथाशक्ति अपनेको क्लेशोसे भावित करे। जो मनुष्य कष्ट नही सह सकते हैं, जिनमे कष्ट सहने का उत्साह नही है या जिनपर कष्ट नही आ रहा हो वे पुरुष अपने शुद्ध आनन्दके मार्गको पा सकें यह बात जरा कठिन है। प्रथमानुयोगमे जितने पुराण पुरुष हुए हैं, पद्मपुराण, हरिवश, प्रद्युम्नचारित्र आदिमे जितने भी पुराण पुरुषोकी कहानी है केवल उनके कष्टोकी ही तो कहानी है। कोई महापुरुष ऐसा बतावो जिसने आराम ही आराम भोगा हो, गद्दे तक्कोपर ही पडा रहता रहा हो और शान्ति पायी हो, इज्जत पायी हो, कोई भी पुरुष बतावो। जब तक कष्ट नही आते है और उन कष्टोको सहनेकी क्षमता नही होती तब तक आत्मामे क्रांति नही बढती है। कौन कैसा अतरमे कष्ट सहता है, किसको क्या पता है ? जिसके चारित्रमे कुछ लम्बे काल भी सुखिया बताया है उसपर भी किसी न किसी अवसरपर महान् क्लेश

उपस्थित हो जाते हैं। भरतचक्रवर्तीकी बडी प्रसिद्धि है, जिन्होने दीक्षा ली और अन्त-मुंहूर्तमे ही केवली हो गये। जब भरतचक्रीका चक्र नगरमे नही प्रवेश कर पा रहा था और बाहुबलिका मुकाबला करना पडा था और बाहुबलिसे हार गये थे, इससे बढकर और क्या कष्ट हो सकता है। कष्टकी जातिया अलग–अलग है।

निर्विकल्पकी मुनिमे कष्टसहिष्णुता महापुरुषोमे इतना बल होता है कि कष्ट आये तो उन्हे सहन करते जायें। किसके कष्टकी कहानी लिखी है? किसीके कष्टकी नही लिखी है, पर ससारमे ऐसा होता नही है कि कोई बिना कष्टके रह सके। कष्ट सबपर आता है। जो कष्टमे अधे हो जाते है वे डूब जाते है, उनका इतिहासमे नाम नही आता। किन्तु जो कष्टोसे न घबरायें उनकी आज कहानी शास्त्रोमे भी लिखी गई है। कष्ट आनेकी सभावना तो रहती ही है तब आरामसे पैदा किया हुआ ज्ञान दु ख आनेपर नष्ट हो सकता है। अब आजकल तो कोई ढगकी वास्तविक विद्या ही नही रही। अभी ही कुछ समय पहिले लोग धनिकोके लडकोको कहा करते थे कि ये सिर्री होते है वे पढ लिख नही सकते। माँ बापका उनपर बडा प्यार रहता है आरामकी उनकी जिन्दगी रहती है। सो उनका चित विद्याग्रहणमे नही लगता है। जो वास्तविक विद्या है वह गुरु विनय बिना और कष्ट सहन बिना प्राप्त नही होती है। यो तो आजकी विद्याएँ कुछ चटपटी विद्याएँ हो रही है, पर उन आजकी विद्यावोमे भी जिसे लोकविद्या कहते है, जितने निपुण गरीब क्षात्र हो जाते है उतने निपुण श्रीमतोके लडके नही हो पाते है। उसका कारण है कि आराम ही आरामसे उत्कृष्ट विद्या नही आती है। अत उत्कर्षार्थीको कष्टसहिष्णु होना चाहिए।

स्वयकी कार्यप्रयोजकता माननेपर कष्टका विनाश —भैया! सच तो बात यह है कि कष्ट कुछ है ही नही इस जीवपर। बाहरमे कोई पदार्थ कैसे ही परिणम रहे है परिणमने दो तुम ज्ञाता द्रष्टा रहो यह जानो कि मैं परके लिए कुछ न कर रहा हूँ, मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह अपने लिए कर रहा हूँ। यदि दूसरोकी सेवा करता हूँ, दूसरोका उपकार करता हूँ तो वह दूसरोके लिये नही कर रहा हूँ वह मैं अपनी रक्षा के लिए कर रहा हूँ। कैसे ये विषय कषाय, ममताके सस्कार इस जीवको बहुत बहुत तरहसे दु खी कर रहे हैं, जिनमे रमते हुए यह जीव यह समझता है कि मैं बहुत होशियारीका काम कर रहा हूँ। मैं सबमे प्रसिद्ध धनिक हूँ। बडे आरामके साधन है, मेरी बडी लोकमे मान्यता है कुछ भी समझें पर अन्तरमे विषय कषायोके सस्कार है, सो वे दु खी कर रहे है, उनसे बचनेका यह सब इलाज है—दूसरोकी सेवा करना आदि। उसमे उपयोग लगेगा तो उतनी देरको विषय कषायोमे उपयोग न लगेगा। पापोका वध न हो तो आत्मदृष्टिकी पात्रता ही मिलेगी। अपनी रक्षाके लिए परकी सेवा कर रहे हैं, यह जिसके भाव है वह कभी क्लेशमे नही आ सकता और जिसका परके प्रति ऐहसानका भाव है—मैंने इन लोगोके लिए कितना क्या किया, बहुत किया, ऐसा परिणाम जो रखेगा वह अपने ही अपराधके कारण दु खी रहेगा।

कार्यकी प्रयोजकताका अवलोकन— जिसने अब तक जिस किसीकी भी सेवा की, स्त्री पुत्र आदिककी ममताभरी सेवा की, न्याय, अन्याय भी कुछ नही गिना वहा भी उसने दूसरेके लिए कुछ नहीं किया अपने ही लिए किया था और अब उनसे हटकर गरीबोकी दया, लोगोका उपकार, धर्मप्रचार या उपदेश आदिक जो कुछ भी किए वे दूसरेके लिए नही किए, अपनी ही शान्तिके लिए यह सब किया गया, ऐसा जिसका परिणाम होगा उसे क्रोध नही जगेगा। प्रतिकूल भी कोई चले, उसको भी देखकर क्रोध न आयगा। क्रोध आता है तब, जब उसके सम्बन्धमें कुछ ऐहसान समझते हैं। मैंने तो इतना ऐहसान किया और यह इस तरह बोल गया। ज्ञानी पुरुषका सर्वत्र यही परिणाम है कि मैं जो कुछ करता हूँ अपने लिए करता हूँ, दूसरोके लिए नही करता हूँ, ऐसे आशयके पुरुष ही कष्टसहिष्णु हो सकते हैं। अज्ञानी जन तो कष्टमें अधीर हो जाते हैं।

कष्टसहिष्णुतासे योगियोके परिणामोमे उज्ज्वलता— साधु संत जन जानकर अपने शरीरको कष्टमे लगाते हैं, उपवास करते है, क्या जरूरत है साहब उपवासकी ? इसमें ज्ञानीका तो यह उत्तर है कि आराम आराममे भले प्रकार रहा आया तो परिणामोमे उज्ज्वलता नही जगती है जैसे भट्टियोमे तपाया हुआ सोना कान्ति लाता है, शुद्ध होता है ऐसे ही कष्टमें तपा हुआ पुरुष अन्तरङ्गमें अपनी उज्ज्वलता बढाता है। वह घाटेमे नही है। घाटेमे तो है आरामतलब पुरुष। कष्ट सहने वाला कभी घाटेमे नही होता। आरामतलब लोग कायर, गम्भीर, आलसी व चित्तके मलिन होते हैं और स्वार्थमे अध रहते हैं अथवा यह कह लीजिए कि उनमे निर्दयता की भी मात्रा अधिक होती है। उससे लाभ नही होता। मोही पुरुष ही ऐसा जानता है कि मैं बडे लाभमे हूँ। कुछ कष्ट ही नही करता है, वह आराम मे खाता हैं, रहता है इसने ऐसा भ्रम बनाया कि उसकी कल्पनामे आराम ही आराम है सदा। अज्ञानी प्राणीको यह विदित नही कि विषयोंके आराममे विष भरा हुआ है अदाज करके देखलो कष्ट सहते हुए अपने न्यायकी दृढताकी जो खबर रखता है उसे कितना आनन्द आता है। विषय साधनमे आसक्त होकर झुकनेमे इतना आनन्द कहा आया करता है। जब कोई विकल्प न उठ रहा हो धर्मकी बात ही चित्तमे समा रही हो उस समयकी शान्ति और आनन्दकी मुद्रा देखलो और एक विषयोके सुख लूटते समयकी कान्ति और मुद्रा देख लो, कितना अतर रहेगा। वहा रोनी सूरत रहती है। भले ही उसने आराम माना हो, पर उन विषयोके सुखमे वह प्रसन्नता कहा रह सकती है जो न्याय नीति और शुद्ध भावोमे मिल सकती है।

योगियोंके तपश्चरणके प्रयोजन— योगीजन अपने आपको कष्ट और तपस्या में लगाते हैं, उसके अनेक प्रयोजन है। प्रथम तो यह प्रयोजन है कि तपमें अपनी वृत्ति होनेपर विषय कषायोंके गदे परिणाम हट जायेंगे। सो विषय कषायोंके आघातसे सुरक्षित रहनेके लिए अपनेको कष्ट और तपस्यामें ज्ञानी पुरुष लगते है। दूसरा कारण यह है कि कुछ कष्ट सहनेका माद्दा जीवनमे नही बना, तो पाया हुआ ज्ञान सब एक

किनारे हो जायगा। जो दो दो दिनके तीन तीन दिनके उपवास कर सकते है, कदाचित् उदयवश कमी रह जाय या न योग जुडे तो वे धैर्य तो रख सकते हैं लोग अपमानसे वडा भय खाते है। मेरा कही अपयश न हो। भैया! यह भय तव तक बना रहेगा जब तक अनेक वार अपयश न हो। एक नीतिमे बताया है कि जव तक कोई उपसर्ग नही आता, कष्ट नही आता तब तक इसका भय रहता है और जव कष्ट आता है तो वह हिम्मत बनाता है उसे फिर उस कष्टसे उतना भय नही रहता है जितना कि भय पहिले था। तो कभी कोई कष्ट उपस्थित हो उस समय भी तो यह तत्त्वज्ञान, वस्तु स्वरूपके स्वतन्त्र स्वरूपकी दृष्टि न खतम हो, न विगडे इसके लिए चाहिये कि हम कष्ट सहे और अपनी शक्ति माफिक व्रत तपमे रहा करे। तीसरा कारण यह है कि ये वाहरी कष्ट लोगोको दीखते हैं कि ये बडे कष्ट सह रहे हैं किन्तु विवेकियोको तो उस कष्टके अन्दर अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है। जैसे गृहस्थ पचासो कष्ट सहकर भी रोजिगारमे आनन्द माना करते है।

साधुवोके कष्टकी अननुभूति योगी तो अपनेसे अधिक कष्ट गृहस्थोके देखता है, ये लोग बडे कष्ट सहते हैं। और, वैसे भी देखो तो साधुवोके कष्टसे अधिक गृहस्थोके कष्ट है। साधुवोने एकबार खा लिया, दिन भर चैनसे रहे, खूब ध्यान किया, न कमायी करना, न धन जोडना, पोथी पढकर सुनादी, बाचली, विश्राम किया, क्या कष्ट हैं साधुवोको, वतावो? और जरा गृहस्थोको देखो दूकान करें, दसो ग्राहको की भली बुरी बात सुने और त्यागीजन आ जाये तो उनकी सम्हाल करें और देशका काम आये सस्थाके काम आयें उनको देखें, मदिरोकी जिम्मेदारी, कितने कष्ट है गृहस्थोको फिर भी जो उन कष्टोको सहन कर सकते है, क्या उन गृहस्थोमे कुछ धैर्य कम है। २२ परिषह लगे है साधुवोके और गृहस्थोके कितने परिषह हैं उनकी गिनती वतावो। लडका परिषह, नाती परिषह, दूकान परिषह, घर परिसह, कितने परिषह हैं। (हँसी)।

विवेकी गृहस्थोकी भी पुण्यचेष्टितता—भैया! वे गृहस्थ भी धन्य कि जो गृहस्थीके बीच रहते हुए भी यह समझते रहे कि मैं तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। कोई यहा नाम लेकर भी कितने ही अपयश करे, बुरा भला कहे तो जिसका वह नाम है उसको भला बुरा कहा। मेरा तो कुछ नाम ही नही है जिसका लोगोने नाम धर दिया है वह मैं नही हूँ मैं तो आकाशवत् अमूर्त, निर्लेप शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ। इसमे नाम नही है। दूसरेको कोई नाम लेकर गाली दे तो हम बुरा तो नही मानते। हमे तो यह गाली नही दे रहा है। इसी तरह यहा भी निरखता है ज्ञानी कि ऐसा नाम लेकर भी यदि कोई कुछ कह रहा है जिसे कहता होगा कहे। मेरेको नही कहता। मेरेको कह भी नही सकता। मैं तो निर्नाम चैतन्यस्वरूप हूँ। यह ज्ञानी पुरुष उन कष्टोके बीच, गर्मीमे पहाडपर तपस्या कर रहा है। शीत ऋतुमे ठड सह रहा है, आहारका योग न मिला तो भी प्रसन्न है, अतराय आ गया वहाँ भी कुछ गम नही है। कितने ही कष्ट सहे, उन कष्टोके बीचमे भी वह अद्भुत आनन्द अमृत पीता

रहता है। इस अज्ञानीको क्या पता है कि ज्ञानी क्या करता है, क्या नहीं किया करता है? इसका परिचय अज्ञानी नहीं पा सकता है। वह तो ऊपरी वृत्ति देखकर कहेगा कि आज महाराजने यह किया। अरे क्या अन्तरंगमें किया, क्या नहीं किया? इसे अन्य लोग जान नहीं सकते। जिसपर बात न आ पड़े वह नहीं समझ सकता।

तपस्यामें आत्मसम्पदाका अवलोकन — इस तपस्यामें, इन कष्टोंके सहनमें बहुत सम्पदा भरी हुई है। सुखमें क्या मग्न होना, दुःखमें क्या घबड़ाना। वह ज्ञानी तो सुखको भी हेय समझता है। वह तो निज सामान्यकी ओर आकर प्रसन्न रहता है। वह विषयोंमें नहीं रमना चाहता, सब लोग जानते हैं कि सुखके बाद दुःख आता है। जो संसारके सुख हैं, वैषयिक सुख हैं उनके बाद दुःख आते हैं और दुःखके बाद सुख आते हैं, कोई भी मनुष्य या जीवात्मा दुःखी न होगा कि उस ही स्वभावका दुःख दिन भर लिए रहता हो। कहाँ तक करेगा? थक जायगा। तो सुखके बाद दुःख आता है और दुःखके बाद सुख आता है। कहो, तुम्हें क्या पसंद है। जिसके बाद दुःख आये वह पसंद है शब्दके अनुसार तो यह कह दिया जायगा कि जिसके बाद सुख मिले वह चीज पसंद है। दुःखके बाद सुख आता है। अरे तो दुःख पसंद नहीं है। संसारमें कहीं क्लेश नहीं है। ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्वकी सुध लो, रंच भी तो कष्ट नहीं है। विकल्पोंका क्यों बोझ लाद लिया है। जिसका जो होना है वह उसके भाग्यसे होता है। हमारे थोड़े कर्तव्यसे कोई सुखी हो जाय होने दो। पर चिंताएँ लादकर अपने आपको संसार गर्तमें डालना यह तो बुद्धिमानी नहीं है। कष्टसहिष्णु हो और वहाँ भी अपने आपके तत्त्वज्ञानका ही ध्यान रखो। ऐसी वृत्तिसे ही कल्याणका मार्ग मिल सकेगा।

●

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेष प्रवर्तितात्।
वायो शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १०४ ॥

आत्मा और देहकी भिन्नताका प्रतिपादन — इस प्रकरणमें यह बात सिद्ध की गयी है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है ऐसा सुननेपर जिज्ञासा हो सकती है कि जब आत्मा और शरीर बिल्कुल जुदे हैं तो आत्माके चलने पर शरीर क्यों चलता है अथवा आत्मा जैसे शरीरको चलाना चाहता है वैसा शरीर क्यों चलता और जहाँ शरीरको बैठाना चाहता है वहाँ शरीर कैसे बैठ जाता? आत्मा हाथ उठाना चाहे तो उठ जाता है, जैसा करना चाहे वैसा शरीर चलता है इसका क्या कारण है, जैसे हम जुदे हैं आप जुदे हैं तो हमारे करनेसे आप चल फिर तो नहीं सकते ऐसे ही

आत्मा जुदा है शरीर जुदा है तो फिर आत्माके चलानेसे शरीरको न चलना चाहिए, न ठहरना चाहिए, किन्तु यह चलता है, ठहरता है, सब बातें नजर आती हैं फिर आप यह क्यों कहते हो कि शरीर जुदा है और आत्मा जुदा है। उस हीके उत्तरमें यह श्लोक कहा गया है।

शरीरयन्त्रके सचरणका निमित्त कारण आत्माका जब इच्छा और द्वेषकी परिणतिसे प्रयत्न होता है तो उस प्रयत्नसे वायु चलती है और वायुके सचारसे यह शरीररूपी यन्त्र अपने अपने अपने कार्य करनेमे लग जाता है। हम हाथ हिलाये या कुछ बोले तो उस हिलने और बोलनेकी क्या प्रक्रिया है? मूलमे कौनसी हरकत होती है, जिसके बाद फिर अङ्गोपाङ्ग हिलने चलने लगते है? सबसे पहले आत्मामे इच्छा उत्पन्न होती है —ऐसा करूँ! भले ही पूरी तरहसे वाक्योमे नही यह बोलता है कि मैं ऐसा करूँ, एक घटे कोई लगातार वेगसे स्पीच बोल रहा है तो क्या एक-एक शब्दके प्रति वह ऐसा मनमे स्फुटरूप सोचता है कि मैं यह बोल दू, नही सोचता है, न कोई वाक्य बनाता है पर इच्छा शब्दके निरन्तर बोलते हुएमे होती जाती है। कोई एक हाथको गोल गोल २० मिनट तक घुमाये तो उस घुमानेके बीचमे कितनी बार उसकी इच्छा होती जाती है, क्षण-क्षणमे निरन्तर इच्छा चलती जाती है और घुमाओ और घुमाओ, पर इस तरह मनमे बोलता नही है, फिर भी उस समस्त प्रयत्नका कारणभूत इच्छा चलती रहती है।

शरीरयन्त्रके सचलनका मूल निमित्त जीवकी इच्छा—सबसे पहिले यह आत्मा इच्छा करता है अथवा द्वेष करता है। जिस तरह भी इसका भाव बने उस इच्छा या द्वेषकी प्रेरणासे आत्मामे योग चलना है जिसे योग मार्गणाये कहते है ना, 'आत्मप्रदेशपरिस्पद' वह योग चलता है। उस योगको निमित्त पाकर शरीरमे वायु चलती है। इस जीवका योग तक तो सम्बन्ध है, इच्छा की तो तो वह आत्मामे ही परिणमन हुआ, द्वेष किया तो आत्मामे ही परिणमन हुआ और इच्छा-द्वेषके कारण आत्माके प्रदेश हिले, योग हुआ, वहा भी आत्मामे ही परिणमन हुआ। इससे आगे आत्मा और कुछ नही करता। अब इस प्रयत्नका निमित्त पाकर चूकि शरीरके एक क्षेत्रावगाहमे है ना यह आत्मा, इस कारण शरीरमे बसा हुआ जो वात है, वायु है, जिसे वैद्य लोग वात, पित्त, कफ कहते है, जो वायु पडी है उसमे हलन चलन होती है और उस वायुके हिलनेका निमित्त पाकर ये शरीरके अङ्ग हिलते है।

आत्मविभाव व देहक्रियामे निमित्तनैमित्तिक भाव—आत्मविभाव व देहक्रिय मे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और वह भी इतना विशिष्ट सम्बन्ध है कि उस नैमित्तिक देहक्रियाकी धारा आत्माके विभावके अनुकूल होती है। इसी कारण लोग यो ही देखकर सीधा कह देते है कि यह जीव चलता है, बोलता है, खाता है, अनेक प्रकारसे उन ही क्रियाओका आरोप यह लोक करता है। पर, विश्लेषण करके देखा जाय तो यो निरखो कि जीवका काम कितना है और शरीरका काम कितना है।

कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि जीव तो केवल राग या द्वेष प्रयत्न तकका काम करता है, तदनुरूप ज्ञान तो साथमे है ही। अब जीवके इस प्रकारकी ज्ञान, इच्छा तथा योगका निमित्त पाकर उस शरीरमे सब व्यवस्थित काम होते हैं, अट्ट-सट्ट नही। जिस प्रकारकी इच्छा हुई वैसा ही योग हुआ और वैसा ही शरीर चला।

वचनोद्भूतिका निमित्त— भैया! बोलनेमे जिस अगके जोर देनेसे जो उच्चारण होता है वही उच्चारण होता है। जैसे क ख ग घ आदि शब्दोंके बोलने पर कठमे जोर पडता है च छ ज झ आदि शब्दोंमे तालु स्थानपर जोर देना पडता है जीभका स्पर्श करना पडता है। तालु स्थान वह है जहा दांत फंसे हैं। उसमे जीभ लगायें तो ये शब्द बोले जा सकते है। उसके ऊपर मूर्धामे जीभ लगाकर ट ठ ड ढ आदि शब्द बोले जाते हैं। यह हारमोनियमका जैसा बाजा है, जहा स्वर दबावो वैसी आवाज निकलेगी। इसे कोई वैज्ञानिक बना सके तो बना ले। इस तरहकी हवा दे सके, जितना जोर जहा देना चाहिए, दे तो ऐसा बोला जा सकता है, पर यह कठिन बात है। दांतोंमे जीभ लगाये बिना त थ द ध नही बोले जा सकते ओठोंमे ओठ लगाये बिना प फ ब भ नही बोला जा सकता। तो जैसी यह जीव इच्छा करता है वैसा ही योग चलता है और उसके ही अनुसार वायु हिलती है और उसके अनुसार ही ये सब ओठ जीभ आदि चलते हैं। अब बतावो एक एक अक्षरके बाद एक अक्षर बोला जाता है और उन सबकी इच्छा होती है, कितनी जल्दी यह इच्छा करता है, उन इच्छावोंके अनुसार इस शरीरका यत्न चलता है। ऐसे ही और भी उच्चारणो की विधि है जैसे कि कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग बोले जाते हैं, जरा नाकको और दाब दिया तो ङ, ञ, ण, न, म, आदि शब्द निकलते है। नाकके दोनो नथुनोको पकड लो तो ये शब्द नही बोले जा सकते। जीभ कण्ठ ओठ आदि हिलनेके साथ भाषावर्गणाके पुद्गलोका निमित्त नैमित्तिक भाव है और उससे उच्चारण होता है ना, ऐसा ही और भीतर आगे देखो इस शरीरकी हरकत होनेसे मूलमे पहिले इस जीवके योगका निमित्त है। कैसे आत्माके प्रदेश हिलते हैं तो यह शरीरका यत्र चलता है? पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर आत्मामे राग द्वेष उत्पन्न हुए। रागद्वेषकी प्रेरणाके कारण मन, वचन, कायकी क्रियारूप प्रयत्न हुआ। भैया जो मनमे वचन कायकी क्रिया हुई है वह तो जडकी क्रिया है, इस जडकी क्रिया होनेमे निमित्तभूत जो प्रयत्न होता है आत्माका, वह है योग। उस प्रयत्नका निमित्त पाकर प्रदेश परिस्पद हुआ और प्रदेशपरिस्पद होनेसे शरीरके भीतरकी वायु चली और वायुके चलनेसे यह यत्र अपने अपने कार्योंमे प्रवृत्त होने लगा।

शरीरकी यन्त्ररूपता— यह शरीर यत्रकी तरह ही तो है। जैसे काठके बनाये हुए जो घोडा आदिके यत्र है। रथ बनाते है उसमे घोडा चलाये जाते हैं और कितने ही तो ऐसे घोडाके यत्र बना लिए जाते है कि उनकी टागें भी चलती हैं, तो जैसे काष्ठका यत्र जिस तरह हिलावो उस तरह हिलता है ऐसे ही जिस प्रकार यह

मनुष्य अपनी जीभ हिलाता है वैसा ही हलन हो जाता है। जैसे बच्चोंके खेलनेकी मटरमे चाबी भर दी जाती है तो जैसे भर दी जाती है वैसे हिलती जाती है ऐसे ही इस शरीर यत्रको जीव जैसे हिलाना चाहता है उस प्रकार हिल जाता है। कभी ऐसा भी हो जाता है कि यह जीव चाहता है कि इस शरीरके अमुक अगको हिलाये और नही हिलता है। जिसे कहते हैं लकवा मार जाता है, तो वह एक यत्रकी खराबी है। यत्र सही है तो जिस प्रकार यह आत्मा प्रयत्न करता है उसका निमित्त पाकर वैसा ही यह हिलने लगता है। यो इस शरीरका हिलना डुलना होता है ।

प्रवर्तनके प्रसङ्गमे जीव और पुद्गलके कार्य— इन सब क्रियाओमे भी जीव और पुद्गलकी न्यारी न्यारी बात है जीवका काम ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तक था। शरीरमे वायुका चलना, यत्रोका चलना यह शरीरका काम है। लेकिन यह बहिरात्मा इस शरीरयत्रको, जिसमे ये इद्रियाँ बनी है, आत्मामे आरोपित करता है। चूँकि इसने यो माना पहिले कि यह मैं हूँ इतना लम्बा, चौडा, मोटा। इसने शरीरमे अहबुद्धि की, जब शरीरमे आत्मतत्त्वकी कल्पना की, आरोप किया तो जैसा उस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धमे यह चलता है उन्हे फिर यह मान लेता है कि मैं बोल रहा हूँ अथवा मैं शरीरको चलाता हूँ हाथ पैर हिलाता हूँ, इस तरहका भ्रम यह अज्ञानी पुरुष करने लगता है और इन पदार्थोमे आत्मीयताका आरोप करनेसे यह जीव क्लेश ही पाता है, शान्ति नही पाता है। विकल्प करे, कल्पना बढाये, बहिर्मुखी दृष्टि करे उससे तो इसे क्लेश ही मिलता है।

निज-निजरूपमे देखनेका विवेक—भैया ! इस शरीरको शरीररूप और आत्माको आत्मारूप देखना यह विवेकी पुरुषका ही काम है। यह शरीर मैं हूँ इस प्रकारका भ्रम ज्ञानी जीवके नही होता है । सो ज्ञानी जीव इस भ्रमको त्यागनेके कारण और प्रत्येक पदार्थमे उस ही पदार्थका गुण पर्याय निरखनेके कारण कल्पनाजालसे, सङ्कटोसे बच जाता है और परमपद जो मोक्ष पद है उसकी प्राप्ति कर लेता है। यह अज्ञानी जीव मिथ्यात्वके आशयसे इन इन्द्रियकी क्रियाओको अपने आत्माकी क्रियाएँ समझता है। इस असमान जातीय द्रव्यपर्यायमे आत्मपदार्थकी कोई क्रिया है इसका भेद डालनेवाला ज्ञानी पुरुष प्रसन्न रहा करता है, वह कभी खेद नही मानता।

परप्रसङ्गमे अज्ञानीका परिणमन अज्ञानी तो अपने घरकी एक ईट भी खिसकते देख ले तो उसका भी हृदय खिसक जाता है। ऐसा यह जीव भ्रममे बढा हुआ है। कोई एक घटना है कुछ वर्षोकी कि एक किसान अनाज बेचने गया। तीन चारसौ रु०का अनाज बेचा, रुपये नोटोके रूपमे थे। सो उन रुपयोकी गिड्डी वह लिए हुए था, जाडेके दिन थे, भट्टीमे ताप रहा था सो उसके बच्चेने उन नोटोको भट्टीमे डाल दिया, वे रुपये जल गए। उस किसानको उससे इतना दुःख हुआ कि उसने अपने बच्चेको भी उस भट्टीमे पटक दिया। वह बच्चा मर गया। तो ऐसे इन जड अचेतन पदार्थोमे इसकी इतनी आत्मीयता है। ऐसे ही इस शरीरमे आत्मीयता कर ली

कि यह मैं हूँ सो शरीर चले तो अपनेको चलना मानता है। अब इसे मुक्तिका कहाँसे अवकाश मिले ? छुटकाराका तो अर्थ यह है कि शरीर अलग हो जाय और आत्मा अलग हो जाय। ऐसा छुटकारा पानेके उपायमे यह करना बहुत आवश्यक है कि यह जीव पहले मान तो ले कि शरीर भिन्न है और जीव भिन्न पदार्थ है। यह कब माना जा सकता है ? जब ऐसा ध्यानमे रहे कि यह शरीरकी क्रिया है, इसका उपादान शरीर है, यह आत्माकी परिणति है, इसका उपादान आत्मा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गुण पर्याय ज्ञानमे आयें तो मुक्तिका अवकाश मिल सकता है। परपदार्थोंमे मोह करके मुक्ति आनन्द, शान्ति, सतोप इसे नहीं मिल सकता हैं।

देहक्रियाको भिन्न पहिचाननेके कारण ज्ञानीके वन्धका अभाव — इस जीवने इन्द्रियोकी क्रियावोको अपनी क्रियाएँ समझी और इस तरह भ्रममें पडकर यह विषय कपायोके जालमे उलझता हुआ अपनेको दुखी बनाता रहता है, किन्तु अन्तरात्मा न भ्रम करता है न इन्द्रियकी क्रियावोको आत्माकी क्रियाएँ मानता है। इसी कारण वह विपय कपायोके जालमे नही फंसता। इसीसे कर्मबन्धन नही होता, कर्मोका सम्वर हो निर्जरण हो तो ऐसे ही शुद्धोपयोगका आलम्बन करके यह जीव अपने एकत्वस्वरूपमे रमता है और उस एकत्वस्वरूपके प्रसादसे द्रव्यकर्मोसे व नोकर्मो से छूट जाता है भावकर्म भी इसके दूर हो जाते है। यो सर्वप्रकारके वन्धनोसे छूटकर ज्ञानी जीव परमात्मपदको प्राप्त करता है और शाश्वत परम आनन्दमय होता है। यो भिन्न-भिन्न वस्तुस्वरूप जाननेके प्रसादसे ससारके समस्त सङ्कट दूर होते है।

❁

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहधियं च, ससारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम्।१०५।

ससारसङ्कटसे मुक्त होनेका तन्त्र —अज्ञानी जीव इन्द्रिय और देहकी क्रियावोको अपनाकर दुःख भोगा करता है। इस जीवका दुःख कैसे दूर हो ? इसका उपाय बताते हुए अब इस अतिम श्लोकमे समाधितन्त्र ग्रन्थकी समाप्ति हो जायगी। उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय बतानेवाले इस समाधितन्त्रको जानकर परमात्माकी भावनामे स्थिरचित्त होते हुए यह ज्ञानी ससारके दुःखोको उत्पन्न करनेवाली जो अहङ्कारबुद्धि है तथा परबुद्धि है उसको छोडकर ससारमुक्त होता है और परम सुखको प्राप्त होता है। इस ज्ञानीके दुःख छूट जायें इसका प्रकरणके अनुसार स्पष्ट उपाय तो यह है कि इस समाधितन्त्रमे जो उपाय बताये गए हैं उनको प्राप्त करे। समाधिका तन्त्र अर्थात् मार्मिक उपाय। कैसे समाधि प्राप्त हो ? उसका तन्त्र इस ग्रन्थमे बताया गया है। समाधि नाम है स्वरूपसम्वेदनकी एकाग्रता होनेका, रागद्वेप रहित समता परिणामका नाम समाधि है। यह समाधि जिस उपायसे स्वके आधीन कर ली जाती है उसे समाधितन्त्र कहते हैं। तन्त्रका आधीनता भी अर्थ है, किसीको आधीन कर लेना

वह भी तो एक उपाय है। सर्व प्रथम यह जीव द्रव्य, गुण, पर्यायका यथार्थ स्वरूप समझे, जिसके प्रमादसे वस्तुओकी स्वतत्रता नजर आने लगे, व्यवहारमे, समागममे भी प्रत्येक वस्तुओका स्वतत्र स्वतत्र परिणमन दिखने लगे और यहाँ तककी अपने आपमे अपने आपके द्वारा अधिष्ठित इस शरीरमे जो क्रियाएँ होती है उनकी भी विवेचना होने लगे, लो ये तो शरीरकी क्रियाएँ है। और यह मेरी क्रिया है। वहाँ भी मिश्रण न हो सके ऐसी भेदबुद्धि जिसकी जागृत रहती है वही पुरुष समाधिको प्राप्त कर सकता है। उसका उपाय इस समाधितत्र ग्रन्थमे है, तत्र नाम शास्त्रका भी है। इस समाधितन्त्रमे अपने समाधि प्रतिपादक शास्त्रको जानकर और इस समाधितन्त्रको अर्थात् समाधिके उपायको जानकर जो समाधिको अपने तत्र करता है, आधीन करता है ऐसा पुरुष ससारके सर्व क्लेशोसे दूर होता है।

समाधिका निर्देश—समाधि शब्दका अर्थ है सम् सम्यकप्रकारेण आधीयते तत्त्व यत्र स समाधि। जहा भली प्रकारसे तत्त्वका आधान होता है उसे समाधि कहते है। तत्त्व है सहज ज्ञायक स्वरूप। वह वहाँ ही स्थित होता है जहा रागद्वेष विकल्प नही रहते है। जितने भी ससारके क्लेश हैं उन क्लेशोका मूल शरीरमे आत्मबुद्धि करना है। जो जीव देहसे भिन्न आत्मतत्त्वको नही जानते है वे अपने देहमे यह मैं हूँ ऐसी प्रतीति रखते है। ऐसे ही दृश्यमान इन अन्य देहोमे भी यह अन्य जीव है ऐसी प्रतीति करते है। अन्य देहोको निरखकर ये पर जीव हैं ऐसा सोचना भी भ्रम है और अपने देहको निरखकर यह मैं हूँ, ऐसा सोचना भी भ्रम है। सबसे पहिले देहसे भिन्न स्वतत्र सत्तावान आत्मतत्त्व है यह समझना होगा। इसकी समझ आते ही यह जीव आत्मा परमात्मामे निष्ठावान होता है।

जीवत्वके सम्बन्धमे चार प्रकारकी ज्ञेयता—आत्माको, इस चैतन्यको लोग स्वतत्ररूपसे चार भागोमे विभक्त करते हैं—जीव, आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म। ये भिन्न चीजे नही है। एक सच्चिदानन्द तत्त्वको जब विकारीरूपमे निरखा, अहकार ममकारकी तरगोमे चिपटा हुआ निरखा तब उसका नाम जीव रख लेना चाहिए, और इस ही सच्चिदानन्दमय तत्वको जब विवेकपूर्ण, भेद विज्ञानी देखा तब इसको अन्तरात्मा अथवा आत्मा कहना चाहिए। यह ही चिदानन्दस्वरूप तत्त्व उस दर्शनके बलसे शुद्ध हो जाता है तब इसको परमात्मा कहना चाहिए। ये तीन अवस्थाएँ हैं। इन सब अवस्थावोमे समानरूपमे सनातन शाश्वत जो एक स्वरूप चितस्वभावी है उस का नाम ब्रह्म बोलना चाहिए। इस प्रकार एक उस चित् तत्त्वमे अवस्थाओके भेदसे और उन अवस्थावोके आधारभूत शाश्वत स्वरूपके लक्ष्यसे चार नाम कहे जाते है।

जीवत्वके चार ज्ञेयोमे हेय उपादेयपनेका विश्लेषण और आलम्ब्य तत्त्व—इनमे छोडने योग्य चीज है जीवात्मत्व, और कथञ्चित् किसी अवस्था तक ग्रहण करने योग्य है आत्मत्व, अन्तरात्मापन, और सर्वथा उपादेय है परमात्मत्व।

यह जीवात्मा मूढ प्राणी अपना जीवात्मत्व त्याग कर परमात्मत्वको पाये इसका उपाय क्या है ? उसका उपाय है अन्तरात्मत्व, भेद विज्ञान। और अन्त स्वरूपका आश्रय लेना यह उपाय भी उपेयकी प्राप्ति न करने तक है। उपेयकी सिद्धि होनेपर फिर यह उपाय नही किया जाता। इस उपायमे भी आश्रयभूत है यह ब्रह्मस्वरूप। इस ब्रह्मस्वरूपका आलम्बन लेकर वह एक निर्मल दशा प्रकट होती है जो बढते २ परमात्माके रूपमे परिसमाप्त होती है।

ब्रह्मके आलम्बनका प्रभाव—यह समाधि एक चित्स्वभावके निरखनेमे प्रकट होती है। जितने विकल्प वितर्क और विचार हैं वे सब इस समाधिके बाधक हैं, यहाँ तक कि व्रत तप सयम करते हुएमे मोही जन कि मैं यह व्रत कर रहा हूँ, इसमे ही मैं पार होऊँगा ऐसा एक मात्र बाह्य क्रियामे विकल्प है, किसके प्रयोजनके लिए ये व्रत सयम किए जा रहे हैं उसकी भी जिसे परख नही है वहाँ भी ये विकल्प समाधिमे बाधक होते हैं। मूलका ग्रहण करनेके बाद फिर ये बाह्य क्रियाएँ इस प्रयोजनमे सहयोग देने वाली होती है। कोई इस मूल तत्त्वको तो ग्रहण न करे और मात्र देहाधीन क्रियावोमे ही अपने धर्मकी परिसमाप्ति समझे वहाँ समाधिकी पात्रता नही होती और कितने भी श्रम करनेके बाद शान्ति प्रकट नही होती है जैसे पेडके पत्तोको भी खूब धोया जाय, फूल और डालियोको भी खूब धोया जाय, सींचा जाय किन्तु जडमे पानीका सिंचन न करे तो वह पेड हरा नही हो सकता। जडोमे पानी दिए बिना केवल मात्र ऊपरी स्नानसे वृक्ष हरा भरा नही होता ऐसे ही अपना परमशरण यह स्वरूप सर्वविविक्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव, इसका ग्रहण न हो, इसकी दृष्टि न हो और बाह्य में परकी ओर, देहकी ओर निरखकर अनेक क्रियाएँ और श्रम करता रहे तो शान्ति नही आ सकती है। कषायोमें भी अन्तर नही पड सकता है।

अविकार अन्तस्तत्त्वके आश्रय बिना कषायोके अभावकी असभवता—लोग किन्ही—किन्हीके बाबत चर्चा करने लगते हैं कि देखो इतने दिन तो हो गए त्यागी हुए व्रती हुए, या पूजापाठ करते हुए, भक्त बने हुए कितना तो समय गुजर गया किन्तु अन्तर कुछ नही आ पाया, वैसा ही क्रोध, वैसा ही घमड, वैसी ही ऐंठ, मायाचार, हठ क्षोभ ये सब ऐब जैसेके तैसे बने हुए हैं, इसका क्या कारण है ? अरे कारण स्पष्ट है, जो निष्कषाय है, निर्दोष है ऐसे अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावकी उनके पकड नही है उसकी दृष्टि करके परमार्थत तृप्ति वे करना ही नही चाहते हैं। विश्राम के स्थानपर वे पहुचे ही नही है। तब क्या करे यह बेचारा प्राणी ? कुछ भी करे, पर विषय कषायोको अन्दरसे हटा नही सकता, मान लो किसी धुनमे रसना इन्द्रियके विषयको मद कर लिया, सतुष्ट हो गया, जैसा मिले तैसा खाले, तो मनका कोई विषय बढ जाता है। हम किसी ख्यातिकी सोचने लगते है, परतत्त्वके सचयकी बात कष्टके लिए ही होती है।

परभावके सचयमे अनर्थ—भैया ! केवल धनके सचयका ही नाम नरका

सचय नही है। अपने मनके जो विषय हैं ख्याति, पूजा, लाभ आदिककी जो चाह है, मेरा नाममें यश रहे, यह बडा पुरुष है, धनी है, ज्ञानी है, तपस्वी है, किसी भी प्रकार की ख्यातिको सोचना यह भी तो एक सचय बुद्धि है, और जैसे धनके प्रति सचयकी बुद्धि लग जाय तो उसकी यह इच्छा होती है कि सारा धन मेरे ही पास आये दूसरे के पास न पहुचे, तभी तो मै बडा कहलाऊँगा, ऐसे ही नामवरीकी चाहमे भी ऐसी ही द्वेषबुद्धि हो जाती है कि सारा पूरा नाम मेरा ही हो, दूसरेका न हो, परतत्त्वके सचयमे इस विधकी बराबर समानता देखते जाइए। यह जीव अपने स्वरूपको भूलकर परतत्त्वके सचयमे ही व्यग्र रहता है।

निजकार्यका विवेक - यह ससार मायाजाल है, दृश्यमान सब कुछ मायारूप है, परमार्थभूत कुछ नही है, सब नष्ट होने वाले है। इन मायामय जीवोमे तत्त्वो से अपने कुछ नामकी चाह रखना, बडप्पनकी आकाक्षा करना यह कैसी स्वप्न जैसी अटपट कल्पना है। इसी अहकार और ममकारसे यह जीव परेशान है। कल्याण तो वह पुरुष कर सकता है जिसमे इतना साहस है कि मानो वह सारी दुनियाके लिए मर गया है, अर्थात् मैं अब मर चुका हूँ। मरे हुए पुरुषके प्रति दुनियाके लोग कुछ भी बकें अथवा कुछ भी प्रवृत्ति करें उसको क्या है ? ज्ञानी पुरुष दुनियाकी दृष्टिमे मरा हुआ ही तो है। अज्ञानी पुरुष समझते ही नही है कि ज्ञानी क्या है। मोहियोको मोह ही पसद आता है। तो ज्ञानी भी यो समझ रखते है कि मुझे करना क्या है किसी परतत्त्वमे। मैं सचमुच यदि अन्यायकी वृत्ति करता हूँ तो वह मेरे लिए भयकर चीज है। उस न्याय वृत्तिसे रहते हुए क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि गुणोके बलसे तृप्त रहते हुए ही मेरा जो कुछ भविष्य है वह मेरे ही परिणामपर तो है। कोई परवाह नही है।

आत्मोन्नतिके इच्छुकोका खुदसे ही उन्नितीपा करनेका औचित्य--- भैया ! किसी दूसरे पुरुषसे कुछ आशा रखकर सुधार न किया जा सकेगा। लोग मुझे बडप्पन दें, तो मेरा सुधार हो जायेगा यह सोचना भ्रम है। इसमे तो बिगाड ही है। अपने आपका शोधन हो, पोषण हो इसमे ही सार है। किस समागममे विश्राम बनाये हुए हो, जिनके लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ अर्पण किए जा रहे हो। मोहियोके परिचयके विषयभूत ये परिचित अज्ञानी है ना, विषय कषायोके भरे हुए हैं ना, अपने ही स्वार्थमे लगे हुए है ना, उनके दिलकी मुराद पूरी करनेके ख्यालमे ऐसा विकट व्यायाम कसरत करके क्या लाभ उठावोगे ? कुछ तो सोचना चाहिए।

किसी प्रकारके ढला चलाये, जैसे चला आया है धर्म भी सुनना चाहिए और पर्वोके मौकेपर इन धर्मोका यो पालन भी करना चाहिए। यह सब मात्र रूढिमे किए जानेसे वास्तविक असर तो न आयगा। जिसे धर्मकी रुचि है वह धर्मको रात दिन बारह महीने रखना चाहता है। भले ही वह न कर सके, सङ्ग प्रसङ्गोमे कुछ अन्य भी यत्न करने पडते है, न कर सके तो भी प्रतीतिमे यह है कि धर्म केवल आठें चौदस को ही करनेको नही है, केवल दसलाक्षणी अष्टाह्निकामें करनेको नही है, धर्म तो

आत्माका स्वभाव है और वह प्रतिक्षण करने योग्य है । ज्ञानी पुरुष इस धर्मकी साधनाके लिए ही सर्व परिग्रहोका सन्यास किया करते हैं ।

ज्ञानी पुरुष अभिन्न आत्मस्वभावकी उपासनासे और कभी-कभी भिन्न आत्माकी, परमात्माकी उपासनासे अपने आपको ज्ञानमात्र बनाया करते हैं । जगतमे हम आपका शरणमात्र समता परिणाम है ज्ञाता द्रष्टा रहना है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी विडम्बना की तो उससे नियमसे फँस जायगा । सर्व यत्न करके मोहजालसे विविक्त होना ही योग्य है । सब जीवोंको समान दृष्टिसे निरखो, ये मेरे है ऐसी प्रतीतिको त्यागो । जब तक सर्व जीवोंमे समता भाव न बनेगा तब तक अपने आपमे भी समाधिजन्य आनन्द न प्राप्त होगा । मोहसे दूर हों और शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रह सकें, ऐसा यत्न ही सर्व प्रकारसे करने योग्य है, अन्य सब हेय तत्त्व है, ऐसा जान ... स्वरूपकी आराधनाके लिए यथोचित सर्व यत्न करना चाहिये । अपनेको अपने ज्ञायकस्वरूपके आलम्बनका ही सच्चा शरण है । निज समयसारका निर्विकल्प करनेरूप समाधिके बलसे ही ससारसङ्कट दूर हो सकते हैं । अत निर्विशेष ... प्रभुसे भाववन्दनपूर्वक आवेदन कीजिये कि हे परमब्रह्म ! इस उपयो... विराजमान रहो अथवा तुममे यह उपयोग एकरस होकर समाया रहे ।